नवीन-पद्य-मञ्जूषा

सम्पादक

श्री हरिश्चन्द्र बी. ए.

प्रकाशक

हिन्दी भवन लाहौर

नवम्बर १९२९

प्रथम संस्करण]

[मूल्य १॥)

प्रकाशक--
हिन्दी भवन
अनारकली, लाहौर

मुद्रक—
विद्याप्रकाश प्रेस
चंगड़ मुहल्ला, लाहौर

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास

ऐतिहासिकों का कहना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदिम आर्य एक स्थान पर—मध्य एशिया में—रहते थे, उस समय उन की भाषा, उन के रीति रिवाज़ सब एक थे। पर धीरे धीरे जीविका की तलाश में इन लोगों ने इधर उधर फैलना प्रारम्भ किया। इस के साथ ही साथ उन की भाषा, सभ्यता तथा रीति-रिवाज़ में भेद होता गया। वह भाषा-भेद धीरे धीरे इतना बढ़ गया कि आज कुछ इने गिने शब्दों के प्रारम्भिक रूपों की समता के सिवा उन में और किसी तरह की समता दिखाई नहीं देती।

अपने प्रारम्भिक घर को छोड़ कर आदिम आर्यों ने दो विरुद्ध दिशाओं में—पश्चिम की ओर, तथा पूर्व की ओर—प्रस्थान किया। पश्चिम की ओर जाने वाले आर्य यूरोप में जा बसे, और पूर्व की ओर जाने वाले धीरे धीरे उत्तरी भारत में आ पहुंचे और वहां हिमालय तथा विन्ध्याचल इन दो पहाड़ों के बीच के गंगा तथा सिन्धु आदि नदियों से सिञ्चित उपजाऊ मैदान में फैल गए। उन के आगमन से उस प्रदेश का नाम भी आर्यावर्त्त पड़ गया जैसा कि मनु भगवान् ने लिखा है—

> आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमान।
> तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

इस आर्यावर्त्त में आ कर बसे हुए आर्यों में उस समय दो भाषायें बोली जाती थीं, एक संस्कृत-अर्थात् शुद्ध की हुई भाषा, जो कि द्विजाति-मात्र तथा पढ़े लिखे लोगों की भाषा थी, दूसरी

प्राकृत जो जन साधारण की भाषा थी। इस संस्कृत के भी दो भेद थे-एक वैदिक अर्थात् वेदों की भाषा, दूसरी लौकिक अर्थात् सांसारिक कार्य कलाप में व्यवहृत होने वाली भाषा।

आर्य जाति को अपनी भाषा की शुद्धता का बड़ा ध्यान रहता था; अशुद्ध उच्चारण पाप समझा जाता था, उस के लिए प्रायश्चित्त करना आवश्यक था, जैसे कि व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता दिखाते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है "प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्"। अतः देववाणी संस्कृत की शुद्धता का ध्यान रख कर भाषा के आचार्यों ने इसे व्याकरण के वृत्त में बन्द करना प्रारम्भ किया, जिस से वह भाषा उत्तरोत्तर अधिक जटिल होती गई। अतः सर्व साधारण के लिए संस्कृत बोलना तथा समझना अधिकाधिक कठिन होता गया। इस कारण धीरे धीरे पढ़े लिखे ब्राह्मणों में ही केवल इस भाषा का प्रचार रह गया।

ईसा से तीन सौ शताब्दी पूर्व जब भगवान् बुद्ध ने धार्मिक क्रान्ति करने का प्रयत्न किया तब उन्हों ने यह अनुभव किया कि संस्कृत में धर्म प्रचार करने का कुछ लाभ न होगा; क्यों कि उस से भाषा की तरह उन का ज्ञान भी केवल द्विजाति मात्र में सीमित रह जावेगा। फिर उन्हों ने तो इन्हीं द्विजातियों की वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया था, इस लिए उन्हों ने सर्व साधारण की भाषा प्राकृत को ही अपनाना उचित समझा। इस धार्मिक क्रान्ति के प्रवाह में आकर बौद्ध धर्म में दीक्षित द्विजातियों ने जब इस प्राकृत को अपनाना शुरू किया, तब संस्कृत और प्राकृत का पारस्परिक सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ। जिस से पाली नाम की एक नयी प्राकृत बन गई। यह पाली भाषा बौद्धों की धार्मिक

भाषा थी, यही अशोक इत्यादि बौद्ध सम्राटों के समय की राज-भाषा थी। बौद्ध धर्म तथा बौद्ध संस्कृति के प्रचार के साथ साथ पाली भाषा ने भी तिब्बत से लेकर लंका तथा फारिस से ले कर सुदूर बर्मा प्रदेश तक अपना आधिपत्य जमा लिया।

उस समय पाली भाषा में कई उत्कृष्ट काव्य तथा अनूठे ग्रन्थ बने।

धीरे धीरे देश भेद से उस प्राकृत में भी कई भेद हो गए। जिन में तीन मुख्य थे—मागधी, शौरसेनी तथा महाराष्ट्री। मागधी तथा शौरसेनी क मेल से एक और प्राकृत पैदा हुई, जिसे अर्द्ध-मागधी कहते हैं। जैन धर्मावलम्बियों ने इस भाषा को ही अपनाया।

ईसा के तीन सौ वर्ष बाद गुप्त साम्राज्य के समय फिर वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रयत्न हुआ और बौद्ध धर्म तथा पाली भाषा का भारत के बाहर के प्रदेशों—लंका बर्मा इत्यादि—में ही प्रचार रह गया। जहां आज भी बौद्ध संन्यासी-फुंगी—अपने विहारों में उस भाषा की शिक्षा दीक्षा देते पाए जाते हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय उपनाम 'विक्रमादित्य' के राज्य में इस समय महाकवि कालिदास इत्यादि कई कवि और विद्वान होते हैं जो कि निज कृतियों से संस्कृत भाषा को अलंकृत करते हैं, परन्तु गुप्त-साम्राज्य के पतन के साथ साथ संस्कृत की पुनः अवनति प्रारम्भ होती है। यद्यपि संस्कृत के इस अवनति-काल में भी महाकवि भवभूति तथा बाण इत्यादि सुलेखक तथा सुकवि पाए जाते हैं, परन्तु सर्व साधारण में संस्कृत का प्रचार बहुत कम पाया जाता है तब संस्कृत और उपरिलिखित प्राकृत भाषाओं—मागधी, शौर-

सेनी, महाराष्ट्री—के सम्मिश्रण से अपभ्रंश (विगड़ी हुई भाषा) तैयार होती हैं।

इस समय भारत में किसी एक शक्तिशाली राजा के न होने के कारण सैंकड़ों छोटे छोटे राज्य बन गए थे। एक राज्य के निवासियों का दूसरे राज्य के रहने वालों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव इन अपभ्रंशों की वृद्धि एकदेशीय हो जाती है, अर्थात् भिन्न भिन्न स्थानों की अपभ्रंश भिन्न भिन्न हो जाती हैं। इन्हीं अपभ्रंशों से आधुनिक उत्तर भारतीय भाषाओं का विकास हुआ। हमारी आज कल की हिन्दी भी "नागर" अपभ्रंश (दक्षिण पश्चिम पंजाब की भाषा) तथा अर्द्ध-मागधी के अपभ्रंश (पूर्वी हिन्दी) के मिश्रण से बनी है।

अब यह विचारणीय है कि इस मिश्रण का नाम "हिन्दी" कैसे पड़ा, इस मिश्रण का पहला रूप हमें किस शताब्दी में मिलता है तथा उस मिश्रण का विकास किस प्रकार हुआ।

एक ही शब्द का उच्चारण भिन्न भिन्न जाति तथा भिन्न भिन्न देश के लोग भिन्न भिन्न करते हैं जैसे "स्कूल" शब्द को पंजाबी "सकूल" तथा युक्त प्रान्तीय "इस्कूल" कहा करते हैं, और मथुरा का अंग्रेज़ लोग "मट्रा" उच्चारण करते हैं, ऐसे ही संस्कृत के शब्द के प्रारम्भिक 'स" अक्षर को फारस निवासियों ने "ह" कर दिया। इसी से सप्ताह से हफ्ता, तथा सिन्धु से हिन्दू बन गया। अतः स्वभावतः ही सिन्धु नदी से सिंचित प्रदेश में रहने वाले लोगों को भी उन्हों ने हिन्दू और उन की भाषा की हिन्दी तथा हिन्दवी कहना प्रारम्भ कर दिया। जैसा कि पारसियों की मुख्य धर्म पुस्तक दसातीर में दिखाई देता है—

अकनू बिरहमने व्यास नाम अज़ हिन्द आमद, बसदाना के अक्ल चुनातस्त। (ज़रतुश्त ६५ वीं आयत)

अर्थात् व्यास नाम का एक ब्राह्मण हिन्द से आया है, जिसके समान कोई पण्डित नहीं।

जिस समय मुसल्मान इस देश में आये वे इस शब्द को अपने साथ लेते आये। धीरे धीरे यही नाम प्रचलित हो गया। पर पहले पहल मुसल्मान ही इस भाषा को हिन्दी कहते थे। हिन्दू लोग संस्कृत और प्राकृत से भिन्न भाषा को केवल "भाषा" कह कर ही पुकारते थे। जैसा कि निम्न लिखित पद्यांशों से स्पष्ट है.----

फारसी बोले आईना। तुरकी सोचे पाईना।
हिन्दी बोलते आरसी [illegible] जो उसे बताये॥

(खुसरो)

तुरकी अरबी हिन्दवी, भाषा जेती आहि।
जा में मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि॥

(मलिक मुहम्मद जायसी)

ज़बाने अरब में य' था सब कलाम;
किया नज़्म हिन्दी में मैंने तमाम।
अगरचे थी अफ़स: वो अरबी ज़ुबाँ;
व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ।
समझ उसकी हरइक को दुश्वार थी;
कि हिन्दी ज़ुबाँ यों तो दरकार थी।
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर;
लिखा नूरनामे को हिन्दी के तौर।

× × × × ×

भाषा भणित मोरि मति थोरी ।

(तुलसी दास)

आजकल भी हिन्दी टीका युक्त संस्कृत ग्रंथों को "भाषा टीका सहित" ही कहा जाता है। साथ ही उपरिलिखित उद्धरणों से एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि आजकल की उर्दू—अरबी फारसी के शव्दों से मिश्रत हिन्दी--को भी उस समय मुसल्मान केवल हिन्दी नाम से ही पुकारते थे।

अस्तु। कहा जाता है कि हिन्दी की उत्पत्ति दसवीं शताव्दी में हुई, परन्तु तत्कालीन किसी कवि का गद्य या पद्य आज कल उपलब्ध नहीं है, जो कुछ फुटकर पद्य मिलते भी हैं उन में अपभ्रंश तथा हिन्दी का ऐसा मिश्रण है कि ठीक तरह यह कहना कठिन है कि वे किस भाषा के हैं। इसी लिए अवतक हिन्दी के प्रथम कवि चन्द बरदई कहे जाते हैं। जनश्रुति के अनुसार ये सम्राट् पृथ्वीराज के समय तेरहवीं शताब्दी में हुए। उन्हों ने स्वरचित वृहत् काव्य "पृथ्वीराज रासौ" में सम्राट् पृथ्वीराज के जन्म से मरण तक का वृत्तान्त लिखा है। रासौ की भाषा अपभ्रंश मिश्रित है, उस में संयुक्ताक्षरों की भरमार है, पर रचना प्रौढ़ है, वीर तथा शृंगार रस का उसमें अच्छा परिपाक हुआ है। चन्दवरदई का पुत्र जल्हन भी अच्छा कवि था, कहा जाता है,कि पिता की मृत्यु के वाद उसने उनके अधूरे महाकाव्य की पूर्त्ति की।

आधुनिक कई ऐतिहासिकों का मत है कि "पृथ्वीराज रासौ" चन्द कवि का बनाया हुआ नहीं वरन् १५वीं या १६वीं शताव्दी में किसी कवि ने चन्द बरदई के नाम से बना दिया।

उस बात की सत्यता की विवेचना तो ऐतिहासिक ही करेंगे परन्तु यह निश्चित है कि इसका बनाने वाला कोई प्रतिभाशाली कवि होगा। और उसकी गणना हिन्दी के नवरत्नों में की जा सकती है।

इस समय अन्य कई भाट कवि होते हैं जिनकी रचना चन्द की तरह प्रौढ़ नहीं पर शैली और भाषा वही है, उन्हों ने जो कुछ लिखा वह राजाओं की प्रशंसा में तथा उनके युद्ध तथा प्रेम के वर्णन में ही लिखा है।

यही समय अमीर खुसरो का भी है, परन्तु अमीर खुसरो और चंद की भाषा में ज़मीन आसमान का अन्तर है। खुसरो की भाषा विल्कुल आज कल की हिन्दी की तरह है। विभक्तियों तथा क्रियाओं का प्रयोग विल्कुल आधुनिक सा प्रतीत होता है। इससे भली भान्ति जाना जा सकता है कि उस समय हिन्दी का रूप कितना स्थिर हो चुका था। जैसे चन्द कवि मिश्रित कविता के पहले कवि कहे जाते हैं वैसे ही खुसरो खड़ी बोली के पहले कवि कहे जा सकते हैं। परन्तु यह निश्चित तौर से कहा जा सकता है कि इनसे पहले और भी कुछ लेखक या कवि अवश्य हुए होंगे जिनके प्रयत्न से हिन्दी का वह रूप बन सका था। खुसरो की पहेलियां तथा मुकरनियां प्रसिद्ध हैं —

बीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया।
"नाखून"

रात समय वह मेरे आवे।
भोर भए वह घर उठ जावे॥
यह अचरज है सबसे न्यारा।
ए सखी साजन ? ना सखी तारा॥

इस समय के गद्य के भी कुछ नमूने मिलते हैं परन्तु तत्कालीन कवियों तथा लेखकों ने पद्य की ओर जितना ध्यान दिया, उतना गद्य की ओर नहीं अतः उसकी उतनी वृद्धि न हो सकी। गद्य लेखकों में प्रथम नाम महात्मा गोरखनाथ का लिया जा सकता है। ये एक पंथ प्रवर्त्तक थे इन्हों ने भी भगवान् बुद्ध की तरह सर्व साधारण की भाषा को ही अपनाना उचित समझा, उनके गद्य-लेख का नमूना नीचे दिया जाता है—

"सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ अस्नान करि चुकौ अरु देवता सर्व पुजि चुकौ, जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के विचार बैठो।"

इसके बाद मिथिला-कोकिल विद्यापति ठाकुर होते हैं। इनकी कविता की भाषा बंगला भाषा से मिलती जुलती है अतएव बंगला कविता के वे पहले कवि माने जाते हैं। ये शृंगारी कवि हैं, राजाओं के आश्रित तथा उनके यशोगान करने वाले कवियों की शृङ्खला इनके साथ ही समाप्त हो जाती है और १६ वीं सदी की धार्मिक क्रान्ति की गूंज ही अब हिन्दी साहित्य में सुनाई देती है जिस के फल स्वरूप हिन्दी में बहुत से सन्त कवि होते हैं। जिन में कबीर नानक तथा रैदास मुख्य हैं।

ये निराकार ब्रह्म की उपासना, एकेश्वरवाद तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति-प्राप्ति का प्रचार करते हैं, कर्मकाण्ड तथा जाति पांति के बंधनों के ये विरुद्ध हैं। इनका सिद्धान्त है "हरि को भजे सो हरि का होई"। इन सन्त कवियों में कविता की दृष्टि से कबीर मुख्य हैं। इनकी गणना हिन्दी के नवरत्नों में की जाती है। ये जति के जुलाहे हैं, अशिक्षित हैं पर हैं स्वभाविक कवि। सीधी गंवारू भाषा में इन्हों ने अनूठे भाव भर दिये हैं।

"माला फेरत युग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका छाँड़ि के मन का मनका फेर॥"
"जाति न पूछो साधू की पूंछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥"
"चलौ चलौ सब कोई कहै, पहुंचै विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय॥"
"पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
चाकी क्यों नहिं पूजिये, पीस खाय संसार॥"
"चींटी चावल लै चली बिच में मिल गई दार।
कह कबीर दोउ ना मिलैं इक लै दूजी डार॥"

परन्तु इन सन्त कवियों द्वारा प्रचारित निराकारोपासना अधिक देर तक न चली। सर्वसाधारण का तो सगुण पूजा में ही चित्त लगता है, शुष्क ज्ञान की अपेक्षा वे सरस भक्ति को ही अधिक पसन्द करते हैं, साथ ही मुसलमानों की निराकारोपासना के आक्रमण से सनातन हिन्दू धर्म को वचाने के लिए भी सगुण उपासना का प्रचार आवश्यक था। अतः ब्रज-विहारी नन्द-नन्दन की भक्ति में लीन महात्मा सूरदास ने रंग मञ्च पर प्रवेश किया। इन्हों ने अपनी सरस कविता द्वारा आगे आने वाले कवियों को एक नया ही रास्ता दिखाया, उस काल से भारतेन्दु तक ही नहीं वरन आज तक भी ब्रज भाषा की कवित का यही मुख्य विषय रहा है। यहां तक की मुसलमान कवि भी इस प्रवाह से न बच सके। रसखान कहते हैं—

मानस हौं तो वही रसखानि वसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा वस मेरो चरौं नित नन्द के धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।

जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

ब्रज-विहारी की भक्ति के लिए ब्रज भाषा ही सब से अधिक उपयुक्त थी, अतः अमीर खुसरो और कबीर दास इत्यादि ने जिस खड़ी बोली में कविता की थी वह अब ब्रज भाषा के सामने ठहर न सकी। तब से लेकर भारतेन्दु तक पद्य में तो क्या गद्य में भी ब्रज भाषा का ही प्राबल्य रहा।

सूरदास हिन्दी साहित्य-गगन के सूर्य हैं, माखन चोर नन्दगोपाल उनके उपास्य देव हैं, उन की भक्ति ही में इन्हों ने सारी कविता लिखी है। बाल-लीला तथा गोपी विरह का वर्णन अतीव हृदयाकर्षक है।

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो, तू जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥
गोरे नन्द यशोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

× × × ×

ऊधो अँखिया अति अनुरागी
इक टक मग जोवति अरु रोवति भूले हु पलक न लागी।
बिन पावस पावस रितु आई देखत है विद्यमान।
अबधौं कहा कियो चाहत है छाँडहु निरगुन ग्यान॥

सुनि प्रिय सखा स्याम सुन्दर के जानत सकल सुभाइ।
जैसे मिलैं 'सूर' के स्वामी तैसो करहु उपाइ॥

सूरदास के अनुयायियों—मीरा रसखान, हितहरिवंश और नरोत्तमदास-की भी भक्तिरस को कविता हिन्दी की अनूठी सम्पति है।

महाकवि तुलसीदास इस भक्तिरस के रुख को श्रीकृष्ण की ओर से हटा कर अवध वासी श्री रामचन्द्र की ओर फेर देते हैं। साथ ही ब्रज भाषा के स्थान पर अवधी भाषा का प्रयोग करते हैं। इनके बनाये रामचरितमानस का हिन्दी संसार में सब से अधिक आदर हुआ है। गरीब व अमीर प्रत्येक हिंदीभाषी हिन्दू के घर में उस की एक प्रति अवश्य मिल सकेगी। हिन्दी साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान बहुत ऊंचा है।

सूर और तुलसी का यह काल हिन्दी का प्रौढ़ काल है। इस समय हिन्दी कविता की जितनी उन्नति होती है उतनी और किसी समय नहीं होती। यही समय सम्राट् अकबर का है। सम्राट् अकबर के दरबार में रहीम गंग इत्यादि कई अच्छे अच्छे कवि थे। रहीम हिन्दी के मुसलमान कवियों में सब से श्रेष्ठ हैं इनकी कविता अधिकतर नीति की है। अकबर स्वयं भी हिन्दी में कविता करते थे।

अब तक जितने भक्त कवि हुए थे उन्होंने भक्ति रस में आप्लावित होकर कविता की थी। उनकी कविता स्वाभाविक थी पर अब केशवदास आते हैं जो भक्तिरस की कविता में पण्डित्य का सम्मिश्रण करते हैं। इस समय से कवि लोग कविता की भाषा की सजावट की ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ करते हैं। साथ ही सूर के भक्तिरस मिश्रित शृङ्गार के स्थान पर लौकिक शृङ्गार को प्रधानता देते हैं तब से शृङ्गारी कवियों का ही तांता बंध जाता है। संयोग वियोग

नायक नायिका के पारस्परिक प्रेमालाप और उनके नखशिख के आलंकारिक वर्णन के सिवा उनको कोई विषय ही नहीं सूझता। वही पिष्ट पेषण वही क्लिष्ट भाषा और अलंकारों की प्रधानता ही उनकी कविता की विशेषता है। इन का कथन है "जोगहू ते कठिन है संजोग पर नारी को।" केशवदास से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक इन का ही ज़ोर रहता है। इस कवि शृङ्खला में विहारी देव मतिराम तथा पद्माकर मुख्य है।

तत्कालीन शृंगारी वायु मण्डल में भी कहीं कहीं भूषण गुरु गोविन्द सिंह तथा सूदन की भीम गर्जना सुनाई देती है। भूषण हिन्दू जाति के जातीय कवि हैं, पराधीनता उनके हृदय में चुभती है उन को नायक भी कविता के अनुरूप ही मिला। अपने वीर नायक का वर्णन क्या ही अनुपम किया है—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, वाड़व सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल-राज है।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम दण्ड पर, चीत मृगझुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंस पर शेर शिवराज है।

इन वीर कवियों के अतिरिक्त कहीं कहीं नीति विषयक एवं नित्य के कामकाज या लोक व्यवहार की कविता करने वाले कवि भी दिखाई देते हैं। इन में रहीम का उल्लेख हम कर चुके हैं। शेष वृन्द और गिरिधरराय का नाम उल्लेखनीय है। ये कहते हैं—

सुख दिखाय दुख दीजिये खल से लरिये नाहिं ।
जो गुर दीजे ही मरे क्यों विष दीजै ताहि ॥

और—

साईं सब ससार में मतलब को व्यवहार ।
जब लग पैसा गांठ में तब लग ताको यार ॥
तब लग ताको यार, यार सँग ही सँग डोलैं ।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलैं ॥
कह गिरिधर कविराय जगत यहि लेखा भाई ।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साँई ॥

साहित्य-शास्त्रियों का कहना है कि प्रतिभाशाली ग्रन्थकार या कवि अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों या कवियों का फल स्वरूप और उत्तर वर्त्ती ग्रन्थकारों या कवियों के लिए फूल-स्वरूप होता है अर्थात् वह अपनी रचना में जहां पूर्ववर्त्ती कवियों के भावों और शैली को चमर सीमा तक पहुंचा देता है वहां आगे आने वाले साहित्य-सेवियों को वह नये मार्ग का प्रदर्शन भी करा देता है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु का बिल्कुल यही स्थान है। पूर्ववर्त्ती मध्ययुग के शृंगारी कवियों की कविता में जो कुछ कहना सुनना बाकी था उसे उन्होंने पूर्ण किया, साथ ही नवयुग के कवियों के लिए नया मार्ग भी प्रदर्शित किया। प्रायः आधुनिक कवियों ने उसी मार्ग का अनुसरण किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करने से पूर्व मध्य युग की कविता का सिंहावलोकन करना आवश्यक होगा। पहले लिखा जा चुका है कि सूर और तुलसी काल के बाद प्रायः शृंगारी कवियों का ही दौर दौरा रहा। भावों की दृष्टि से कविता में कुछ उन्नति

नहीं हुई।

खुसरो तथा कबीर इत्यादि की भाषा बिल्कुल आधुनिक प्रचलित हिन्दी के समान थी परन्तु भक्त और शृंगारी कवियों ने प्रायः ब्रज भाषा और अवधी भाषा का ही अवलम्बन किया। उस के दो कारण थे। एक तो जो सरसता ब्रजभाषा में थी वह खड़ी बोली में न थी क्योंकि ब्रजभाषा के शब्दों को इच्छानुसार तोड़ा मोड़ा जा सकता है, दूसरा ब्रज विहारी की लीलाकीर्तन के लिए और अयोध्यापति की उपासना के लिए ब्रजभाषा और अवधी ही उपयुक्त थी। शृंगारी कवियों ने इन्हीं का अनुकरण किया। इस तरह मध्ययुग में खड़ी बोली का प्रायः अभाव ही रहता है। बीच बीच मे कहीं कहीं रहीम और सूदन की कविता में यद्यपि कुछ खड़ी बोली की झलक दिखाई देती है परन्तु प्राबल्य ब्रजभाषा का ही था। मध्ययुग के अन्तिम कवियों ने फिर कुछ कुछ खड़ी बोली को अपनाना प्रारम्भ किया। १८वीं शताब्दी के अन्त में सीतल कवि की कविता वर्त्तमान हिन्दी के ढंग की दिखाई देती है।

चन्दन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर विहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ॥
ऐसे में ग्रहण समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ, नभ ते अवनी, अंग उछले नट का बटा हुआ॥

बाद में अन्य कवि भी इसी ढंग को अपनाते हैं।

यहां तक तो हुआ कविता का विवेचन। अब ज़रा गद्य की तरफ दृष्टि डालते हैं। मध्ययुग में गद्य का बिल्कुल अभाव सा रहता है। यद्यपि कहीं कहीं गद्य लेख मिलते हैं पर वे न के बराबर हैं। १९वीं शताब्दी में कई गद्य लेखक होते हैं जिन में सैय्यद इंशा-

अल्लाह सदलमिश्र तथा लल्लूजी लाल प्रसिद्ध हैं। परन्तु इन सब की शैली भिन्न भिन्न है। अन्त में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही गद्य की भी एक शैली निश्चित करने में सफल होते हैं।

भारतेन्दु का जन्म सं० १९०८ में तथा मृत्यु सं० १९४२ में हुई। इस छोटे से जीवन में ही उन्हों ने जो कुछ लिखा उस से हिन्दी साहित्य में क्रान्ति कर दी। इसी से वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के जन्मदाता कहे जाते हैं। हिन्दी साहित्य-सागर में भारतेन्दु को एक प्रकाशस्तम्भ के समान समझना चाहिए जिस की ज्योति देखकर नए कवियों ने अपना नया मार्ग स्थिर किया तथा प्राचीन शृंगार रस को सदा के लिए तिलाञ्जलि दी। उस के स्थान पर उन्हों ने सामयिक विषयों की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। कृशाङ्गिनी नायिका के नख-शिख वर्णन को छोड़ कर उन्हों ने देश और जाति की वर्तमान अवस्था पर लिखना शुरू किया और यही उन की कविता का मुख्य विषय हो गया। नये भावों को प्रकट करने के लिए नयी शैली, नये शब्दों और नये मुहाविरों की आवश्यकता प्रतीत हुई, अतः भाव परिवर्तन के साथ साथ व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रचार प्रारम्भ हुआ।

भारतेन्दु ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही कविता लिखी है और दोनों में ही वे सफल हुए हैं। नीचे उन के नमूने दिए जाते हैं--

लगौंही चितवनि औरहि होत।
दुरत न लाख दुराओ कोऊ प्रेम झलक की जोति॥
घूँघट मैं नहिं थिरक तनिकहूं अति ललचौंही बानि।
छिपत न कैसहुँ प्रीति निगोड़ी अन्त जात सब जानि॥

होत सखि ये उलझौंहैं नैन।
उरझि परत सुरझ्यो नहिं जानत सोचत समुझत हैं न॥
कोऊ नाहिं वरजै जो इन को वनत मत्त जिमि गैन।
कहा कहौं इन वैरिन पाछे होत लैन के दैन॥

जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि वैस गंवाई। जागो जागो रे भाई॥
अवहू चेति पकरि राखौ किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई॥

भारतेन्दु ने गद्य को वड़ा प्रोत्साहित किया। उन से पहले पद्य की वड़ी प्रवलता थी अव गद्य की प्रवलता हुई। इन्हों ने ही आधुनिक ढंग के नाटक लिखने की चाल चलाई।

भारतेन्दु के वाद पं० प्रतापनारायण मिश्र, वालमुकन्द गुप्त, वालकृष्ण भट्ट, वद्री नारायण चौधरी और वा० राधाकृष्ण दास इत्यादि कई सत्कवि और सुलेखक हुए। उन्हों ने भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित मार्ग का ही अनुकरण किया।

आधुनिक कवियों में नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, गया प्रसाद शुक्ल, मैथिली शरण गुप्त, राम नरेश त्रिपाठी तथा जयशंकर प्रसाद आदि मुख्य हैं।

वर्तमान ढंग की कविता को प्रारम्भ हुए अभी केवल ५०--६० वर्ष ही हुए हैं। यद्यपि इतने काल में इस में कोई तुलसी या सूर जैसा उत्कृष्ट कवि नहीं हुआ पर फिर भी उस की उन्नति यथेष्ट हुई है। प्रेस तथा पत्र-पत्रिकाओं से उन की उन्नति में पर्य्याप्त सहायता मिली है। किसी महाकवि के पैदा न होने का एक मुख्य कारण यही है कि इस समय साहित्य सेवियों का पद्य की अपेक्षा गद्य

का ओर ही अधिक ध्यान रहता है। दूसरे अभी समय ही कितना हुआ है ? हो सकता है निकट भविष्य में खड़ी बोली में भी सूर, तुलसी या उन से भी अच्छे कवि उत्पन्न हो जायँ।

स्थूल रूप से काव्य कलाओं को तीन हिस्सों में बांट सकते हैं। भाव भाषा और शैली। आगे हम संक्षेपतः इसकी विवेचना करेंगे कि खड़ी बोली की कविता में काव्य कला के इन तीनों भागों का कैसा विकास हुआ है।

भावों की दृष्टि से मध्ययुग के कवियों से आज कल के कवियों में मौलिक परिवर्तन हो चुका है। साधारणतया आज कल कविता के मुख्य विषय देश-हित, जाति-हित, समाज-सुधार, प्रकृति वर्णन, इत्यादि कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय तथा धार्मिक आन्दोलनों के साथ साथ देश हित इत्यादि के जैसे जैसे आदर्श बदले कविता के विषय भी वैसे वैसे ही बदलते गये। इधर एक नया ही कवि-सम्प्रदाय निकला है। इस की उत्पत्ति कुछ थोड़े ही दिन से हुई है। इसे छायावादी मण्डल कहा जा सकता है। ये अपने मनोभावों को साकार रूप देकर तथा कभी कभी जड़ पदार्थों को चेतन मान कर उन से काम निकालते हैं। ये हृदय के मूक-आह्वान को प्रत्यक्ष रूप देना चाहते हैं इससे इनकी कविता इतनी क्लिष्ट हो जाती है कि सर्वसाधारण का उसे समझना कठिन हो जाता है।

भाषा की दृष्टि से आज कल के कवि दो भागों में बांटे जा सकते हैं। एक व्रजभाषा या अवधी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग करने वाले और दूसरे विशुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग करने वाले। पहली श्रेणी के महाकवियों में पं० नाथूराम 'शंकर' तथा पं० श्रीधर पाठक उल्लेखनीय हैं। ये अवसर देख कर जहां जिस शब्द की आवश्यकता

होती है प्रयोग कर लेते हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिली शरण गुप्त तथा गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' इत्यादि मुख्य हैं।

इस के अतिरिक्त आज कल कई कवियों की भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार दिखाई देती है, शायद उस में क्रिया ही हिन्दी की होती है, अन्य सब शब्द-समास आदि संस्कृत के ही होते हैं। इस का उदाहरण अयोध्यासिंह जी उपाध्याय का बनाया 'प्रियप्रवास' है। छायावादी कवियों की भाषा भी प्रायः संस्कृत बहुल ही होती है।

शेष रहा शैली विवेचन। आधुनिक कवियों ने जहां पुरानी भाषा और पुराने भावों को तिलाञ्जलि दी वहां पुरानी शैली–छन्दों और अलंकारों–का भी परित्याग कर दिया है। पहले दोहा, चौपाई, सवैया, घनाक्षरी इत्यादि का अधिक प्रयोग होता था आज कल इन छन्दों का बहुत कम प्रचार रह गया है। इनके स्थान में नये नये छन्द प्रयोग में आने लगे हैं। कुछ दिन तक तो संस्कृत छन्दों का ही हिन्दी में दौर दौरा रहा। जिस का पहले पहल प्रयोग पं०अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने किया,फिर श्री रामचरित उपाध्याय इत्यादि ने भी उसका अनुकरण किया। इन्हों ने वैसी ही अतुकान्त कविता की जैसी संस्कृत में की जाती है। उसके बाद श्री मैथिली-शरण जी ने हरिगीतिका छन्द का प्रयोग प्रारम्भ किया, इसका हिन्दी में बहुत प्रचार हुआ। अब तक हिन्दी के नये कवि इसी छन्द का उपयोग करते हैं। इस के अतिरिक्त आल्हा छन्द का भी हिन्दी में पर्याप्त प्रचार हुआ। साथ ही साथ उर्दू के बहुत से छन्दों का भी हिन्दी में उपयोग किया जाता है।

आज कल छायावादी कवि छन्दों के बन्धन को सर्वथा

छोड़ रहे हैं उनका कथन है कि तुक और मात्राओं के बन्धन में सुकुमार हार्दिक भावों का प्रदर्शन भली-भान्ति नहीं हो सकता, अतः उन के पद्य भी गद्य के समान विना किसी तुक के होते हैं साथ ही उसमें मात्रा या अक्षरों की भी समानता नहीं रहती। यदि किसी पंक्ति में ३५ मात्राएं हैं, तो किसी में केवल पांच ही मात्राएं होती हैं।

अलंकारों का प्रयोग तो हिन्दी में अव बहुत कम हो गया है। मध्य युग के शृंगारी कवियों को तो अलङ्कारों का अजीर्ण हो गया था, उन्हों ने काव्य की आत्मा–भावों-को छोड़ कर अलङ्कारों के उपयोग के प्रदर्शन के लिए ही बहुत सी कवितायें लिखी हैं, पर आज कल के बहुत से कवियों ने तो अलंकार ग्रन्थों का अवलोकन ही नहीं किया। सारांश यह कि आज कल हिंदी कविता इन शैली के वन्धनों को तोड़ कर स्वतन्त्र होना चाहती हैं।

हिन्दी कविता के इस आधुनिक स्वरूप को ही इस संग्रह में दिखाने का यत्न किया गया है। जहां तक हो सका है हिन्दी के आधुनिक सब प्रकार के कवियों को कविता नमूना इस में दिखाया गया है साथ ही कवियों का संक्षिप्त जीवन चरित्र भी जोड़ दिया गया है, इस प्रकार हर तरह प्रस्तुत संग्रह की एक उत्तम पाठ्य पुस्तक वनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है।

विनीत

संग्रहकर्त्ता

सूची

नवीन

पद्य-मंजूषा

पंडित नाथूराम 'शंकर' शर्म्मा

आप का जन्म वि० सं० १६१६ में चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ था। आप हरदुआगंज—जिला अलीगढ़— के निवासी हैं। आपके पिता का नाम पं० रामस्वरूप शर्मा था। आप गौड़ ब्राह्मण हैं। आप वर्तमानकाल के, खड़ी बोली के, श्रेष्ठ कवियों में से हैं। कई संस्थाओं से आपको कविराज, भारत प्रज्ञेन्दु, कविता-कामिनी-कान्त आदि अनेकों उपाधियां वितरण हो चुकी हैं। आप जैसे सिद्धहस्त कवि हैं, वैसे ही यशस्वी वैद्य भी हैं। इस समय आपकी आयु ७० वर्ष की है तोभी इन दोनों विषयों में आपकी प्रतिभा प्रखर गति से चल रही है। आपकी लिखी हुई 'शङ्कर सरोज' अनुरागरत्न' 'गर्भरण्डा रहस्य' 'वायस विजय' आदि अनेक पुस्तकें विद्वत् समाज में अच्छी प्रतिष्ठा पा रही हैं।

शंकर जी बड़े स्पष्टवादी, निडर, हंसमुख और सन्तोषी पुरुष हैं। आप की कविताओं का मान जैसा हिन्दी संसार में है आर्य-समाज में उससे भी अधिक है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय पं० प्रताप नारायण मिश्र जी से आपकी घनिष्ट मित्रता थी।

रंक-रोदन

१

क्या शंकर, प्रतिकूल काल का अन्त न होगा ?
क्या मंगल से मेल मृत्युपर्यंत न होगा ?
क्या अनुभूत दरिद्र-दुःख अब दूर न होगा ।
क्या दाहक दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥

२

हो कर मालामाल पिता ने नाम किया था ।
मैंने उनके साथ न घर का काम किया था ॥
विद्या का भरपूर अटल अभ्यास किया था ।
पर औरों की भाँति न कुछ भी पास किया था ॥

३

उद्यम की दिनरात कमान चढ़ी रहती थी ।
यश के सिर पर वर्ण-उपाधि मढ़ी रहती थी ॥
दान मान की ज्योति अखण्ड जगी रहती थी ।
भिखमंगों की भीड़ सदैव लगी रहती थी ॥

४

जीवन का फल पूज्य पिता जी पाय चुके थे ।
कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुके थे ॥
सुन्दर-स्वर्ग समान विलास बिसार चुके थे ।
हम सब उनका अन्त अनन्त निहार चुके थे ॥

बाँध बाप की पाग बना मुखिया घर का मैं।
केवल परमाधार रहा कुनबे भर का मैं।
सुख मे पहली भाँति निरंकुश रहता था मैं।
क्या करता है कौन न कुछ भी कहता था मैं॥

६

जिनका संचित कोश खिलाया खाया मैंने।
करके उनकी होड़ न द्रव्य कमाया मैंने।
लूट रहे थे लोग न छल पहचाना मैंने।
घाटे का परिणाम कठोर न जाना मैंने॥

७

अटके डिगरीदार किसी ने दाम न छोड़े।
छीन लिये धनधाम ग्राम, आराम न छोड़े॥
हाय किसी के पास विभूषण वस्त्र न छोड़े।
नाम रहा निरुपाधि पुलिस ने शस्त्र न छोड़े॥

८

बैठ रहे मुखमोड़ पुराने आनेवाले।
लेते नहीं प्रणाम लूट कर खानेवाले॥
देते हैं दुर्वाद बड़ाई करनेवाले।
लड़ते हैं बिन बात अड़ी पर मरनेवाले॥

९

कविता-प्रेमी लोग न अब सत्कवि कहते हैं।
हा! न विज्ञ विज्ञान-गगन का रवि कहते हैं॥
धर्म-धुरन्धर धीर नहीं गुरुजन कहते हैं।
मुझको सब कंगाल धनी निर्धन कहते हैं॥

१०

वित्त बिना विख्यात विरद विपरीत हुआ है।
मन मेरा निश्शंक महा भयभीत हुआ है॥
कंगाली की मार पड़ी रसभंग हुआ है।
जीवन का मग हाय! विधाता तंग हुआ है॥

११

प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचण्ड लताड़ चुका है।
आदर को अपमान-पिशाच पछाड़ चुका है॥
पौरुष का सिर नीच निरुद्यम फोड़ चुका है।
हाय हर्ष का रक्त निषाद निचोड़ चुका है॥

१२

दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है।
शत्रु करें उपहास, मित्र सुखमूल नहीं है॥
छूटे नातेदार किसी से मेल नहीं है।
घर में हाहाकार, खुशी का खेल नहीं है॥

१३

मंगल का रिपु घोर अमंगल घेर रहा है।
हास त्रास के बीज विनाश बखेर रहा है॥
दीन मलीन कुटुम्ब कर्म को कोस रहा है।
मेरा कंठ अदम्य दरिद्र मसोस रहा है॥

१४

बालक चोखे खान-पान पर अड़ जाते हैं।
खेल खिलौने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं॥
पर मनमानी वस्तु बिना बस रह जाते हैं।
हाय हमारे काढ़ कलेजे सो जाते हैं॥

१५

फूल फूल कर फूल फली फल खानेवाले।
नाना व्यंजन पाक प्रसादी पानेवाले ॥
दूध रसाला आदि सुधारस पीनेवाले ।
हाय बने हम शाक चनों पर जीनेवाले ॥

१६

लड़के लकड़ी बीन बीन कर ला देते हैं।
ईन्धन भर का काम अवश्य चला देते है ॥
वृद्ध चचा दो तीन बार जल भर देते हैं।
मांग मांग कर छाछ महेरी भर देते हैं ।

१७

छप्पर में त्रिन बांस घुने एरण्ड पड़े हैं ।
बरतन का क्या काम बने घनखण्ड पड़े हैं ॥
खाट कहाँ ? है सात फटे से टाट पड़े हैं ।
चक्की पीसे कौन बिना भिड़ पाट पड़े हैं ॥

१८

जाड़े का प्रतियोग, न उष्ण विलास मिलेगा।
गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा ॥
घेर रही बरसात न सूखा ठौर मिलेगा ।
इस खँडहर को छोड़ कहाँ घर और मिलेगा ॥

१९

कर कर केहरिनाद बलाहक बरस रहे हैं ।
अस्थिर विद्युद् दृश्य दशों दिश दरस रहे हैं ॥
गँदला पानी छेद छत्त से छोड़ रहे हैं ।
इन्द्रदेव जी टांग त्राण की तोड़ रहे हैं ॥

२०

दिया जले किस भाँति तेल को दाम नहीं है।
काटें मच्छर डांस कहीं आराम नहीं है॥
टूट पड़ें दीवार यहाँ सन्देह नहीं है।
करदे पनियाँ ढार नहीं तो मेह नहीं है॥

२१

वीत गई अव रात अँधेरा दूर हुआ है।
संकट का कुल हाय न चकनाचूर हुआ है॥
आज तीसरा रुद्र-रूप उपवास हुआ है।
हा! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है॥

२२

विपतिसमा सकुटुम्ब विशप से ले सकता हूँ।
धन्यवाद प्रभु ईशस्वामी को दे सकता हूँ॥
धन-गौरव सम्पन्न आज ही हो सकता हूँ।
पर क्या अपना धर्म पेट पर खो सकता हूँ?

२३

देश भक्ति की चाल कटीली चल सकता हूँ।
नोटिस देकर पुण्य-प्रसाद निगल सकता हूँ॥
लोलुप लीला भांति भांति की रच सकता हूँ॥
फिर क्या मैं कापटच्य-पाप से वच सकता हूँ॥

२४

जो जगती पर वीज पाप के वो न सकेगा।
जिसका साहस सत्यधर्म को खो न सकेगा॥
जो विधि के विपरीत कभी कुछ कर न सकेगा।
रो रो कर वह रंक कहाँ तक मर न सकेगा॥

प्रशस्त पाठ

कब कौन अगाध पयोनिधि के, उस पार गया जल-यान बिना,
मिल प्राण, अपान, उदान रहैं, तन में न समान सव्यान बिना।
कहिये ध्रुव ध्येय मिला किसको, अविकल्प अचंचल ध्यान बिना,
कवि 'शंकर' मुक्ति न हाथ लगी, भ्रम-नाशक निर्मल ज्ञान बिना ॥१॥

पठपाठ प्रचण्ड प्रमाद-भरे कपटीजन जन्म गमाय गये,
रण रोप भयानक आपस में भट केवल पाप कमाय गये।
धन, धाम विसार धरातल में. धनवान असंख्य समाय गये,
कवि 'शंकर' सिद्धि मनोरथ की, जड़ शुद्ध सुबोध जमाय गये ॥२॥

उपदेश अनेक सुने मन को, रुचि के अनुसार सुधार चुके,
धर ध्यान यथाविधि मन्त्र जपे, पढ़ वेद पुराण विचार चुके।
गुरु गौरव धार महन्त बने, धन धाम कुटुम्ब विसार चुके,
कवि 'शँकर' ज्ञान बिना न तरे, सब ओर फिरे झकमार चुके ॥३॥

निगमागम तन्त्र पुराण पढ़े, प्रतिवाद प्रगल्भ कहाय खरे,
रच दम्भ प्रपंच पसार घने, बन वंचक वेप अनेक धरे।
बिचरे कर पान प्रमाद-सुरा, अभिमान हलाहल खाय मरे,
कवि 'शँकर' मोह-महोदधि में, बकराज विवेक बिना न तरे ॥४॥

घर बार विसार विरक्त बने ठनि वेप बनाय प्रमत्त रहैं,
बकवाद अबोध गृहस्थ सुने शठ शिष्य अनन्य सुजान कहैं।
घुस घोर घमंड महा बन में विचरैं कुलबोर कुपंथ गहैं,
कवि 'शंकर' एक विवेक बिना कपटी उपताप अनेक सहैं ॥५॥

तन सुन्दर रोग-विहीन रहै मन त्याग उमंग उदास न हो,
मुख धर्म प्रसंग प्रकाश करे नर मंडल में उपहास न हो।
धन की महिमा भरपूर मिले प्रतिकूल मनोज विलास न हो,
कवि 'शंकर' ये उपभोग वृथा पटुता प्रतिभा यदि पास न हो ॥६॥

दिन रात समोद विलास करें, रस-रंग भरे सुख-साज बने,
शिर धार किरीट कृपाण गहें, अवनी भर के अधिराज बने।
अनुकूल अखंड प्रताप रहै, अविरुद्ध अनेक समाज बने,
कवि 'शंकर' वैभव ज्ञान विना भवसागर के न जहाज बने ॥ ७ ॥

पंडित श्रीधर पाठक

पाठकजी प्रयाग निवासी सारस्वत ब्राह्मण थे। आप का जन्म वि० सं० १९१६ में माघ कृष्ण चतुर्दशी को हुआ था और मृत्यु संवत् १९०५ के भाद्रपद मास में मंसूरी में हुई थी। आप जैसे हिन्दी के सिद्ध-हस्त लेखक थे वैसे ही संस्कृत और अंग्रेजी के भी विद्वान् थे। व्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों प्रकार की कविता करने में आपकी पूर्णगति थी। खड़ी बोली-कविता के तो आप आचार्य माने जाते थे। प्रकृति-सौंदर्य के आप परमप्रेमी थे इसी लिए मंसूरी के चित्ताकर्षक दृश्य आपको प्रतिवर्ष उधर खेंच लेजाते थे। आपने अनेकों फुटकर कविताओं के सिवा लगभग १५ काव्य रचे हैं। गोल्डस्मिथ के तीन काव्य ग्रन्थों के पद्यानुवाद में आपको जो सफलता प्राप्त हुई है वह विशेष उल्लेखनीय है। आपने ही अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के पंचम अधिवेशन के सभापति-पद को सुशोभित किया था।

सावधानी

तू प्यारे कहना मान, अभी मत चल रे।
गहरा दरिया, नाव पुरानी,
चल रहा अन्धड़, चढ़ रहा पानी,
औघट घाट, थाह अनजानी,
केवट कर रहा आना-कानी,
मत होवै नादान, ज़िद से टल रे, ।

थका हुआ है कुछ सुस्ता ले,
पता पार का कुछ पुछवाले,
अपना बेड़ा आप बना ले,
क्यों पड़ता गैरों के पाले,
होगा जल्द उतार आज या कल रे:
तू प्यारे कहना मान, अभी मत चल रे ॥

ऐसा नहीं भला रे

ऐ प्यारे तेरा हाल आज यह क्या रे,
कल तक तू खूब भला था,
चिहरे पर नूर खिला था,
क्या पड़ा आज दुख भारी,
जो बिगड़ी सूरत सारी,
दे सारी अपनी बात साफ़ बतला रे।

क्यों बार बार रोता है,
रोता है फिर सोता है,
रोने से क्या होता है,
सोता है सो खोता है,
रोना और सोना ऐसा नहीं भलारे।

रोग तेरा क्या रे
ऐ रोगी तू पहचान रोग तेरा क्या रे
तू आँय-बाँय है बकता,
कुछ बात समझ नहीं सकता
तेरा घबराना नहि रुकता
तेरा दिल हर वक्त धड़कता
तैंने घर वालों पर डाली एक विपदा रे।

तू अपना रोग न जानै,
औरों की बात न मानै,
हर दम अपनी ही तानै,
नहिं हैगा होश ठिकानै,
तेरा बिगड़ चला है कैस हाय बेचारे
ऐ रोगी तू पहचान रोग तेरा क्या रे॥

नट नागर हैं न कहीं अटके

नट नागर हैं न कहीं अटके।

अधिवासी बने सब के घट के

रहैं तो भी सदा सबसे हट के

बहैं प्रेमप्रवाह में बे-खटके

नट नागर हैं न कहीं अटके।

जहाँ सत्य पै सीस गिरें कट के

जहाँ कृत्य पै खडग् खरे खटके

वहाँ भृत्य बने अपने भट के

नट नागर हैं न कहीं अटके

अहि-मुंड पै जो चढ़के मटके

गज-सुन्ड पै जाके अड़े डटके

अरि हैं अब भी हरि संकट के

नट नागर हैं न कहीं अटके।

धर पाये कभी जो कहीं टटके

भरे प्रेम के माखन के मटके

अटके जो कहीं, तो कहीं अटके

नट नागर हैं न कहीं अटके॥

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

आपका जन्म वि० सं० १९२२ में वैशाख कृष्ण तृतीया को हुआ था। आप आजमगढ़ निवासी सनाढ्य ब्राह्मण हैं। आप के पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय था।

आपने जीवन भर हिन्दी की सेवा की है। जैसे आप यशस्वी गद्य-लेखक हैं वैसे ही पद्य रचना में भी प्रवीण हैं। आपकी सब से बड़ी तारीफ यह है कि आप सरल से सरल और कठिन से कठिन गद्य लिखने में या कविता लिखने में कमाल करते हैं। इन्होंने कविता द्वारा हिन्दी में युगान्तर ही उपस्थित कर दिया है। आप के सिवा हिन्दी में कविता की भाषा में मुहावरेबन्दी की बहार दिखाने वाला कोई कवि नहीं। आपका प्रिय-प्रवास काव्य अति प्रसिद्ध है। हिन्दी के सिवा संस्कृत, फारसी, उर्दू, बँगला आदि भाषाएं भी आप जानते हैं। पहले आप कानूनगो अफसर थे। अब हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। आप दिल्ली में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बन चुके हैं।

कुछ उल्टी सीधी बातें

द्विपद

१

जला सब तेल दीया बुझ गया है अब जलेगा क्या।
बना जब पेड़ उकठा काठ तब फूले फलेगा क्या॥

२

रहा जिसमें न दम जिस के लहू पर पड़ गया पाला।
उसे पिटना पछड़ना ठोकरें खाना खलेगा क्या॥

३

भले ही बेटियां बहनें लुटें बरबाद हों बिगड़ें।
कलेजा जब कि पत्थर बन गया है तब गलेगा क्या॥

४

जिसे कहते नहीं अच्छा उसी पर हैं गिरे पड़ते।
भला कोई कहीं इस भाँति अपने को छलेगा क्या॥

५

न जिसने घर सँभाला देश को क्या वह सँभालेगा।
न जो मक्खी उड़ा पाता है वह पंखा झलेगा क्या॥

६

मरेंगे या करेंगे काम यह जी में ठना जिस के।
गिरे सर पर न बिजली क्यों जगह से वह टलेगा क्या॥

७

नहीं कठिनाइयों में वीर लौं कायर ठहर पाते।
सुहागा आँच खाकर काँच के ऐसा ढलेगा क्या॥

८

रहेगा रस नहीं खो गाँठ का पूरी हँसी होगी।
भला कोई पयालों को कतर घी में तलेगा क्या॥

९

सगों के जो न काम आया करेगा जाति-हित वह क्या।
न जिस से पल सका कुनबा नगर उस से पलेगा क्या॥

१०

करेगा काम धीरा, कर सकेगा कुछ न बातूनी।
पलों में खर बुझेगा काठ के ऐसा बलेगा क्या॥

११

न आँखों में बसा जो वह भला मन में बसेगा क्या।
न दरिया में हला जो वह समुंदर में हलेगा क्या॥

दिल के फफोले

जिसे सूझ कर भी नहीं सूझ पाता,
नहीं बात बिगड़ी हुई जो बनाता,
फिसल कर सम्भलना जिसे है न आता,
नहीं पाँव उखड़ा हुआ जो जमाता,
पड़ेगा सुखों का उसे क्यों न लाला।
सदा ही रहेगा न वह क्यों कसाला॥

रंगा जो नहीं रंगतों में समय की,
नहीं राह काँटों भरी जिसने तय की,

बहुत है कंपाती जिसे बात भय की,
नहीं तान जिसने सुनी नीति नय की,
गला बेतरह क्यों न उसका फँसेगा।
उजड़ता हुआ घर न उसका बसेगा॥

नहीं देखता जो कि क्या हो रहा है,
न अब भी जगा जो पड़ा सो रहा है,
बुरे बीज अपने लिये बो रहा है,
बचा मान जो दिनबदिन खो रहा है,
भला ठोकरें खायगा वह न कैसे।
रसातल चला जायगा वह न कैसे॥

न हम अनबनों से भगाये भगेंगे,
न हम एकता रंगतों में रँगेंगे,
नहीं काम में हम लगाए लगेंगे
जगाये गये पर नहीं हम जगेंगे,
भला धूल में तो मिलेंगे न कैसे।
हमारे खुले मुंह मिलेंगे न कैसे॥

न हित की सुनेंगे न हित की कहेंगे,
जहाँ बोलना है वहां चुप रहेंगे,
सहेंगे सभी की न घर की सहेंगे
अगर कुछ महेंगे तो पानी महेंगे,
बुरा हाल है बेतरह आँख फूटी।
मगर फूट की बात अब भी न छूटी॥

अछूते फूल

१

फूल में कीट, चाँद में धब्बे ।
आग में धूम, दीपक में काजल ॥
मैल जल में, मलीनता मन में ।
देख किस का गया नहीं दिल मल ॥

२

है बुरा घास-फूस-वाला घर ।
मल भरा तन, गरल भरा प्याला ॥
रिस-भरी आँख, सरभग सौदा ।
मन भरा मैल, दिल कसरवाला ॥

३

है कहाँ गोद तो भरी पूरी ।
जो सकी गोद में न लाल सुला ॥
क्या मिला पूत जो सपूत नहीं ।
क्या खुली कोख जो न भाग खुला ॥

४

क्या रहा ताल तब भरा जल से ।
जब कि उसमें रहा कमल न खिला ॥
क्या फली डाल जो सुफल न फली ।
क्या खुली कोख जो न लाल मिला ॥

५

पुल सकेगा न बँध सितारों पर।
कुल धरा धूल दुल नहीं सकती॥
धुल सकेंगे न चाँद के धब्बे।
बाँझ की कोख खुल नहीं सकती॥

६

जब नहीं उसने बुझाई भूख तो।
मोतियों से क्या भरी थाली रही॥
जो न उस के फल किसी को मिल सके।
तो फलों से क्या लदी डाली रही॥

७

जोत कैसे मलीन होवेगी।
क्या हुआ भूमि पर अगर फैली॥
धूल से भर कभी न धूप सकी।
हो सकी चाँदनी नहीं मैली॥

८

आम में आ सका न कड़वापन।
है मिठाई न नीम में आती॥
छोड़ ऊँचा सका न ऊँचापन।
नीच की नीचता नहीं जाती॥

————

यशोदा उद्धव संवाद

मेरे प्यारे सकुशल सुखी और सानन्द तो हैं ?
कोई चिन्ता मलिन उन को तो नहीं है बनाती ?
ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?
हो जाती हैं हृदय तल में तो नहीं वेदनायें ॥१॥

मीठे मेवे, मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना ।
धीरे प्रातों सहित सुत को कौन होगी खिलाती ?
प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था ।
हा ! पाता है न अब उस को प्राणप्यारा हमारा ॥२॥

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा ।
लज्जा होती अमित उस को माँगने में सदा थी ॥
जैसे लेके सरुचि सुत को अँक में मैं खिलाती ।
हा ! वैसे ही अब नित खिला कौन वामा सकेगी ॥३॥

मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही बिताती ।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी ।
हा ! ऐसी है अब बदन को देखती कौन होगी ?
ऊधो ! माता-सदृश ममता और की है न होती ॥४॥

खाने, पीने शयन करने आदि की एक वेला ।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था ।
ऊधो ! ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी ।
माता की सी अवनितल में है अमाता न होती ॥५॥

जो लाती थीं विविध रंग के मुग्धकारी खिलौने।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी।
हा! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना।
तो उन्मत्ता-सदृश मुख की ओर मैं देखती हूं ॥६॥

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था।
खाते खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था॥
ये बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं।
हो जाता है मधुरतर औ स्निग्ध भी दग्धकारी ॥७॥

प्यारे ऊधो! सुरत करता लाल मेरी कभी है?
क्या होता है न कभी उसको ध्यान वृद्ध पिता का!
रो रो होके विकल अपने वार जो हैं बिताते।
हा! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ॥८॥

कैसे वृन्दा विपिन बिसरा, क्यों लता वेली भूली?
कैसे जी से उतर सिगरी कुञ्जपुंजें गई हैं?
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले।
कैसे भूला विकच तरु सो कालिंदी कूल वाला ॥९॥

कुंजों कुंजों प्रति दिन जिन्हें चाव से था चराया।
जो प्यारी थीं परम व्रज के लाडिले को सदा ही।
खिन्ना, दीना विकल बन में आज जो घूमती हैं।
ऊधो! कैसे हृदय-धन को हाय वे धेनु भूलीं ॥१०॥

Ra—

लाला भगवानदीन 'दीन'

आप का जन्म जिला फतहपुर के बरवट गांव में वि. सं० १९२३ की श्रावण शुक्ला षष्ठी को हुआ था। आप कायस्थ हैं। आजकल हिन्दू विश्व-विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं।

आप जैसे कवि हैं वैसे ही हिन्दी के उत्कृष्ट समालोचक और टीकाकार हैं। आप ने पुराने हिन्दी-कवियों के कई कठिन एवं प्रसिद्ध (लगभग १५) ग्रंथों की अत्यन्त सरल और सुबोध टीकाएं लिखी हैं। इन से हिन्दी पढ़ने वाले युवकों को अति लाभ हुआ है। इनके कतिपय प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम ये हैं – केशव-कौमुदी, बिहारी-बोधिनी, कविप्रिया अलङ्कार मंजूषा इत्यादि। काशी का हिन्दी साहित्य विद्यालय आपके ही बल पर चल रहा है। हिन्दू विश्व विद्यालय में आने से पूर्व आप गया से निकलने वाली 'लक्ष्मी' पत्रिका का बीस वर्ष तक सम्पादन करते रहे हैं।

आपकी आंखों को क्या समझे

कहो तो आज कहदें आप की आंखों को क्या समझे।
सिता सिन्दूर मृगमद युक्त अद्भुत कुछ दवा समझे ॥१॥

अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे ॥२॥

न हो सन्तोष इस पर भी तो उपमा तीसरी कहदें।
युगलपद धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋग्की ऋचा समझे ॥३॥

दवा कैसी ? सुधा क्या है ? ऋचा की बात जाने दो।
हँसी अनुराग युत शृंगार रस की भूमिका समझे ॥४॥

न मानो भूमिका तो पाँचवीं उपमा बता देवें।
सकल जग तारने के हित त्रिवेणी की धरा समझे ॥५॥

त्रिवेणी की धरा सिकतामयी ये हैं रसिकतामय।
मकरगत मंद-मंगल-चन्द की शुभदा छठा समझे ॥६॥

भला इन अँखड़ियों से इस छटा की तुल्यता कैसी।
जगत को मोहने वाली त्रिदेवों की प्रभा समझे ॥७॥

त्रिदेवों की प्रभा भी सामने इनके नहीं जँचती।
खरी त्रिगुणात्मिका माया की द्व्यर्थक फक्किका समझे ॥८॥

भला इस फक्किका से और इन आंखों में क्या संगत।
सुविद्या एक को अपरा तो दूजी को परा समझे ॥९॥

नहीं कहते बनी उपमा भुलावे में पड़े हम भी।
सदा ही 'दीन' हितकर राम सीता की दया समझे ॥१०॥

———

आंसू

दीन दुखियों के दुखी दिल के दुलारे आँसू।
प्रेमपथ पँथी पियारों के पियारे आँसू ॥
भय से भरपूर भरे नैनों के तारे आँसू।
भक्ति से भींजे हुए मान के वारे आँसू ॥
आदि कवि जू के परम पुष्ट सहारे आँसू।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

शोक से भय से कभी चित्त जो घबराता है।
हर्ष से या कभी हरिभक्ति से भर आता है ॥
तब तू लहराके लपक आँखों में आ जाता है।
दिल के सब भेद तुरत खोल के बतलाता है ॥
दिल की हालत का तू देता है पता रे आँसू।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

पूत की आँख में माता जो कहीं लख पावे।
दौड़ कर अपने सुआँचल में भुझे बिठलावे ॥
प्रेयसी नेत्र में आकर जो झलक दिखलावे।
हाथ प्रेमी का तुरन्त तुझ को सुपट पहनावे ॥
तेरा सम्मान अजब होते लखारे आँसू।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

द्रौपदी-दृग से निकल दर्श दिखाया तू ने।
सब को मालूम है कुरु-कुल को बहाया तूने ॥

भीम को भाई ही का रक्त पिलाया तू ने ।
पार्थ के हाथ अवध्यों को वधाया तूने ॥
तूने निज बल से बता क्या न किया रे आँसू ।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

मातु के नैन से गिर तूने गज़ब वही ढाया ।
क्या कहूँ काम परशुराम से जो करवाया ॥
बार इक्कीस अ-रजपूत जगत बनवाया ।
सारे सँसार में जाहिर है तेरी यह माया ॥
तूने वह जोर परशुधर को दिया रे आँसू ।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

जब वियोगी के सुनैनों से निकल पाता है ।
जाके प्रेमी को लड़ी दूर पै कलपाता है ॥
पानी हो आग की तासीर तू दिखलाता है ।
काठ से चित्त को पिघलाता है सुलगाता है ॥
प्रेम-नगरी के अलख-शक्ति अँगारे आँसू ।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

आदि कवि जू के सुनैनों में तू जब आया था ।
'मा निषादादि' कवित मुखसे निकलवाया था ॥
फिर चरित राम का प्रत्यक्ष ही दरसाया था ।
'बालमीकी' सा बड़ा ग्रन्थ ही बनाया था ॥
मूल कविता का तुही है मेरे प्यारे आँसू ।
कौन कह सकता है महिमा तेरी खारे आँसू ॥

———

जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०

आपका जन्म भादों सुदी ५ संवत् १९२३ को काशी में हुआ। और आजकल अयोध्या की महारानी साहबा के प्राइवेट सैक्रेटरी हैं।

आप व्रजभाषा के अच्छे मर्मज्ञ है और आधुनिक व्रजभाषा के सर्वोच्च कवियों में से हैं। आपने हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, और बिहारी रत्नाकर हरिश्चन्द्र तथा गंगावतरण इत्यादि कई ग्रंथ लिखे हैं। कुछ दिन पूर्व काशी नगरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने इन को "गंगावतरण" नामक काव्य पर सर्वोत्तम पुरस्कार प्रदान किये थे।

हरिश्चन्द्र परीक्षा

चलि सुरपुर सौं विस्वामित्र अवधपुरी आए ।
देखे तहाँ समाज साज सब सुभग सुहाए ॥
बन उपवन आराम सुखद सब भाँति मनोहर ।
लहलहात है हरित भरित फल-फूलनि तरवर ॥१॥

विविध गुनावन करत राजपौरी पर आए ।
लखि रचना निज सृष्टि-सक्ति कौ गर्व भुलाए ॥
रजत–हेम–मुकता–मय मंजुल भवन बिराजत ।
बड़े बड़े मनि-अच्छ खचित द्वारे इमि भ्राजत ॥२॥

"टरैं चन्द सूरज औ टरहिं मेरु गिरि सागर ।
टरहि न पै हरिचन्द भूप कौ सत्य उजागर" ॥
पढ़त प्रतिज्ञा साभिमान ईर्षा पुनि आई ।
"भला देखि हैं तौ" मन मैं कह भौंह चढ़ाई ॥३॥

तब लौं दौरि पौरिया भूपहिं यह सुधि दीन्ही ॥
"महाराज एक ऋषिवर कृपा आज इत कीन्ही ॥"
सुनि नृप आपहिं उमगि द्वार अति आतुर आए ।
करि प्रनाम पग परसि सभा मैं सादर ल्याए ॥४॥

बैठार्‍यो सनमान सहित बहु बिनय उचारी।
आनँद सौं तन पुलकि उठ्यो नैननि भरि बारी॥
सहज अकृत्रिम भाव भूप के मुनि मन भाए।
श्रद्धा सील सुभाव नम्रता हेरि हिराए ॥५॥

पै बानी करि उदासीन निज परिचय दीन्ह्यौ।
"सुनहु भूप हम कौन जाहि आदर तुम कीन्ह्यौ॥
जाके तप ब्रह्मांड तप्यौ हरि-आसन डोल्यौ।
जो तप-बल छत्री सौं है ब्रह्मर्षि कलोल्यौ ॥६॥

कौसिक बिस्वामित्र सोई हम तव गृह आए।
सकल मही के दान लेन के चाव चढ़ाए॥
जान्यौ हमैं तथा आवन कौ कारन जान्यौ।
कहौ बेग अब जो बिचार उर अंतर आन्यौ" ॥७॥

कह्यौ भूप "कत जानि बूझ बूझत मुनि ज्ञानी।
या मैं सोच-बिचार कहा जौ तुम यह ठानी॥
तुम सौ पाइ सुपात्र दान दैबे मैं चूकै।
तौ यह चूक सदैव आनि उर अंतर हूकै ॥८॥

लीजै मानि प्रमोद सकल महि सादर दीन्ही"।
"स्वति" भाषि मुनि मन मैं बिबिध प्रसंसा कीन्ही॥
स्रवन सुन्यौ जैसौ तासौ बढ़ि आँखिनि देख्यौ।
साँचहिं नृप हरिचन्द अमंदचरित मुनि लेख्यौ ॥९॥

सद-गुन-गन-आगार धर्म आधार लसत यह।
साँचहिं परम उदार भूमि-भर्तार लसत यह॥
जिहिं महि के दस हाथ हेत नृप माथ कटावैं।
रुंडहु ह्वै उठि लरैं रुधिर सौं कुंड भरावैं॥१०॥

जिहिं हित तप करि तचैं पचैं नर स्वारथ-घेरे।
सो सब तृन-इव तजी नैकु तेवर नहिं फेरे॥
अब करि कौन कुढंग भंग या कौ व्रत कीजै।
पुनि कछु गुनि बोले "अब दानप्रतिष्ठा दीजै" ॥११॥

कह्यौ भूप कर जोरि "होहि इच्छा सो लीजै"
बोले ऋषिवर "सहस-स्वर्णमुद्रा बस दीजै" ॥
"जो आज्ञा" कहि नृपति वेगि मंत्रिहिं बुलवायौ।
सहस स्वर्न-मुद्रा आनन-हित हरपि पठायौ॥१२॥

यह लखि ऋषि विकराल लाल लोचन करि बोले।
भृकुटी जुगल मिलाइ किए नासापुट पोले॥
"रे मिथ्या धर्मध्वज, मृषा सत्य-अभिमानी।
धर्म-धीरता पन-दृढ़ता तेरी सब जानी॥१३॥

ऐसहिं तुच्छ कपट छल सौं महिमा विस्तारी।
भयौ सकल जग मैं विख्यात सत्य-व्रत-धारी॥
दई दान तैं अब समस्त महि भई हमारी।
राज-कोप कौ अब तैं मूढ़ कौन अधिकारी॥१४॥

सुनि मुनिवर के परुष वचन कछु भूप सकाए।
बोले बचन निहोरि जोरि कर विनय बसाए॥
"छमा छमा ऋषिराज दया-सागर गुन-आगर।
छमा छमा तप-तेज-तरनि तिहुँ-लोक-उजागर॥१५॥

साँचहिं अब समुझात बात हम अनुचित कीन्हीं।
मंत्रिहिं जो मुद्रा आनन की आयसु दीन्ही॥
हम अवगुन के कोस किए सब दोस तिहारे।
तुम गुन-सिंधु अगाध छमहु अपराध हमारे॥१६॥

जिहिं तिहिं भाँति सहस्र स्वर्न मुद्रा सब दैहैं।
दारा सुअन समेत याहि ऋण हेत बिकैहैं॥
पुनि मुनि करि भ्रूवंक सहित आतंक उचार्यौ।
"रे रवि-कुल-कलंक मति-रंक हमें निरधार्यो॥१७॥

जा हित माँगत छमा न सो छल छाड़त नेकहु।
निज मुख-पानिप संग बहावत बिसद बिबेकहु॥
अरे मूढ़मति भई सकल बसुधा जब मेरी।
काके धन तब अधम देह बिकिहै कहु तेरी"॥१८॥

यह सुनि पुनि नरनाह सोच के सिंधु समाने।
बहु विधि सोधि मुखाग्र बचन मुकता ये आने॥
"सब सास्त्रनि सौं सिद्ध लोक-बाहिर जो कासी।
निज त्रिसूल पर धारत जाहि संभु अबिनासी॥१९॥

अघ-ओघनि करि दूर मोच्छ-पद बरबस दैनी ।
कहा कठिन जो होहि हमारेहु ऋन की छैनी ॥
दारा सुअन समेत जाइ हम तहाँ विकैहैं ।
एक मास की अवधि दयासागर जो देहैं" ॥२०॥

सुनि भूपति के वचन भए मुनि प्रथम चकित अति ।
लगे प्रसंसा करन मनहिं मन वहुरि जथामति ॥
"धन्य धर्म-दृढ़ता हरिचन्द अमंद तिहारी ।
साँचहिं तुम तिहुँ लोक माहिं नर-गौरव-कारी" ॥२१॥

पुनि वानी करि उदासीन यह आज्ञा कीन्ही ।
"एक मास की अवधि तुम्हैं करुना करि दीन्ही ॥
पै जो एक मास मैं सव मुद्रा नहिं पैहैं ।
तो तोहिं पुरुपनि संग साप दे नरक पठैहैं" ॥२२॥

"जो आज्ञा" कहि नृपति हर्प जुत सीस नवायौ ।
मंत्रिहिं अपर समस्त राजकाजिन्हि वुलवायौ ॥
सव सौ सहित उछाह विदित वेगहि यह कीन्हौ ।
"हम सव राज समाज आज ऋपिराजहि दीन्हौ ॥२३॥

वेगहिं उठि सिंहासन कौं प्रनाम नृप कीन्हौ ।
रोहितास्व वालकहिं महिपि सैव्यहि सँग लीन्हौ ॥
चले राज तजि हरप विपाद न कछु उर आन्यौ ।
भूलि भाव सव और एक ऋण-भंजन ठान्यौ ॥२४॥

पंडित कामताप्रसाद गुरु

गुरु जी का जन्म सं० १९३२ में सागर (मध्यप्रदेश) में हुआ था। खड़ी बोली की कविता लिखने में ये प्रसिद्ध हैं व्याकरण के विषयमें इन्हें प्रमाण समझना चाहिये। इनका लिखा हिन्दी-व्याकरण हिन्दी-जगत् में सब से अधिक प्रामाणिक समझा जाता है। आजकल ये मेल नार्मल स्कूल, जबलपुर में शिक्षक हैं। इनकी कविताएं व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और भाव-पूर्ण होती हैं। भाषा सरल एवं मुहावरेदार रहती है। इन के ग्रन्थों में सत्यप्रेम, पार्वती और यशोदा (उपन्यास), भौमासुर वध, विनयपचासा तथा भाषा वाक्य-पृथकरण आदि प्रसिद्ध हैं। व्रजभाषा और खड़ी बोली-दोनों में इन्हों ने कविताएं लिखी हैं। जैसे ये कवि हैं वैसे समालोचक भी अच्छे हैं।

दीन-निहोरा

१

दया दयामय नाथ ! सदा है अमित तुम्हारी।
जो तुमने सुधि कभी दीन की नहीं बिसारी॥
कौतुक जग में करे तुम्हारी करुणा नाना।
धन, प्रभुता, बल, बुद्धि व्यर्थ है निरा बहाना॥

२

जो कौड़ी को दुखी दीन रो रो तरसै है।
सहसा कञ्चन मेह उसी के घर बरसै है॥
मरणहार जो फँसा कठिन रोगों के दल में।
जीवदान तुम नाथ उसे देते हो पल में॥

३

खुले ठौर की कड़ी शीत में जो मरता है।
दिव्यधाम में वही वास सुख से करता है॥
आश-हीन की आश नाथ तुमही हो जग में।
बिछ जाते हैं फूल दीन के कंटक मग में।

४

बालक बिन, धन भरा, महल है जिसका सूना।
सातों सुख के सदृश बने हैं वही नमूना॥
नहीं नेक भी सह्य कभी है कोप तुम्हारा,
संसारी बल इसे सके क्या रोक बिचारा॥

५

रहता है शुभ नाम तुम्हारा मुख पर दुख में।
हाय! उसे हम अधम भूल जाते हैं सुख में॥
तो भी करुणा नहीं रावरी कम होती है।
अन्तर्यामी दृष्टि जगत पर सम होती है॥

६

मदमाता जग, भला दीन-दुख क्या पहचाने?
दीनबन्धु बिन कौन दीन के हिय की जाने॥
होता जो न अधार शोक में नाथ तुम्हारा।
निराधार यह जीव भटकता फिरता मारा॥

७

कभी कभी हैं काज तुम्हारे यदपि अनोखे।
तो भी उनसे लाभ सृष्टि पाती है चोखे॥
जन्म, मरण, दुख, हर्ष, नियम का सहकर बन्धन।
करते हैं आदेश तुम्हारा निशि-दिन पालन॥

पुत्र

१

माता तन का सार, पिता का तू सर्वस है,
दोनों का संसार, वंश का विस्तृत यश है।
मात-पिता अनुराग प्रकट तेरा यह तन है,
मूर्तिमान सौभाग्य, पुत्र, तू अद्भुत धन है॥

२

जब तू जग में आय, भूमिपर गिरकर रोया,
माँ ने हिये लगाय कष्ट सब अपना खोया।
सुन तेरा प्रियरुदन, पिता का मन यों जागा,
हुई झोंपड़ी भवन, मिला सब को मुँह माँगा॥

३

प्रबल प्रेम में पगे, पिता-मा तन के फल से,
बली समझने लगे आप को तेरे बल से।
भोला रूप निहार, हुए दोनों मन भोले,
मानो इष्ट विचार, हृदय ने निज पट खोले॥

४

अन्धकार मिट गया, हुआ चहुँ ओर उजेला,
वास बसा फिर नया, भरा ऊजड़ में मेला।
चिन्ता में दिन रात, जलाती थीं जो मनको,
सो अब होकर शान्त, पालती हैं शिशुतन को॥

५

तेरा जीवन-भेद बुद्धि में नहीं समाता,
तो भी मान अभेद, मानता है मन नाता।
यह सम्बन्ध अटूट एकही धर्म जगत में,
सच्चे सुख की लूट, संग है सदा विपत में॥

६

माँ को तब टक लगा, निरखता तू पय पीते,
भरता ममता जगा, पयोधर है तू रीते।

फिर अवाक मुसकान, कुंद की खिली कली सी,
लगती सुधा समान मधुर है माँ को जी सी ॥

७

तेरे सब व्यापार खेलना, खाना, सोना,
भाषा भाव विचार सभी हैं केवल रोना।
करे न इस का मान भले ही भाषा ज्ञाता,
पर निज गिरा समान इसे गिनती है माता ॥

८

राजा सम हठ कठिन कभी तेरी ठनती है,
पर यह बिगड़ी रहन एक पलमें बनती है।
है पदार्थ वह कौन जिसे तू कर न बढ़ावे,
नहीं धारता मौन, न जब लौं इस को पावे ॥

९

कोमल कमल-समान निरख तेरा तन चंचल,
करते हैं छवि पान मधुप मा के दृग पल पल।
चूम चूम शशि-वदन, पान कर रूपसुधा को,
हो कर भी अति मगन नया नित सुख है माको ॥

१०

तेरा सोना निरख और सोते मुसकाना,
होता है सुख अलख, पाय ज्यों छिपा खज़ाना।
यह सोना अनमोल अधिक सोने से धन है।
मुहरों से भी गोल, जगत में सच्चा धन है ॥

११

कभी कभी पय-पान स्वप्न में तू करता है;
देकर माँ को ज्ञान, मोह उसका हरता है,
फिर उदास मुख बना, नींद में तू रोता है;
दशा देख दुख घना, दीन माँ को होता है॥

१२

जिनके धोये वसन न बिगड़े शिशुपद रजसे,
चूमे कोमल कर न जिन्होंने खिले जलज से।
थके न जो बकवाद बोलकर बालक-भाषा,
उनका विभव प्रमाद, वृथा है शुभगति आशा॥

———

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

सनेही जी का जन्म वि. सं. १९४० में श्रावण शुक्ल त्रयोदशी को हुआ था। आप का निवासस्थान हवड़ा, जिला उन्नाव है। आप का उपनाम 'सनेही' तथा 'त्रिशूल' है। इन दोनों उपनामों से आप की कविताएँ प्रकाशित होती हैं।

सनेही जी इस समय खड़ी बोली के लब्धप्रतिष्ठ कवियों में से हैं। आप उर्दू के भी अच्छे शायर हैं। आप की वृत्ति अध्यापन रही है। पहले आप उन्नाव जिले के वर्नेकुलर फाइनल स्कूल में सेकण्ड मास्टर पुनः हेडमास्टर रह चुके हैं। आजकल आप कानपुर में हैं और साहित्य सेवा में ही समय बिताते हैं। आप की लिखी पुस्तकों में से प्रेमपचीसी, कुसुमाञ्जलि, कृषकक्रन्दन तथा त्रिशूलतरंग विशेष प्रसिद्ध हैं। भरतपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर जो कविसम्मेलन हुआ था उस के आप सभापति थे। आपकी श्रेणी के कवि हिन्दी में इने गिने ही हैं। आप तात्कालिक कविता रचने में विशेष निपुण हैं।

सन्ध्या

१

चलते बने दिनराज पश्चिम को हुई अब शाम है,
आकाश-मण्डल में लसी क्या लालिमा अभिराम है।
दिन तो नहीं वह अब रहा, पर चिन्ह यह अवशिष्ट है,
हा ! किन्तु वैरी काल को यह भी मिटाना इष्ट है॥

२

क्षणमात्र में ही देख लो वह रंग भी जाता रहा,
अब तो तमी का राज्य है, तम तुमुल से नाता रहा।
यह काल क्षणभर भी कभी समभाव से रहता नहीं,
इस के प्रवाहों में भला है कौन, जो बहता नहीं॥

३

चिड़ियाँ चलीं तरु ओर चोंचों में चुगा चुपचाप ले,
देंगी उसे निज चेटुओं को चिवुक-चुम्बन आपले।
किस जीव को अनुराग अविरल स्वजन से होता नहीं ?
निज तनय अङ्गस्पर्श करके कौन दुख खोता नहीं ?॥

४

मृगगण जलाशय के निकट निज प्यास खोने जा रहे,
कुछ झाड़ियों में शान्त हो चुपचाप सोने जा रहे।

तरु-पुञ्ज भी सुस्थिर हुए अब पत्तियां हिलतीं नहीं,
अलि गण हुए चुप कञ्ज कलिकायें कहीं खिलती नहीं ॥

५

मानो परिश्रम कर प्रकृति करने चली विश्राम है,
है शान्त वह, है सघन कानन या सुघर आराम है।
किन्तु चातक चुप नहीं वह कह रहा है पी कहां ?
पाये विना प्रियतम भला लगता किसी का जी कहां ॥

६

हो रात, अथवा हो दिवस, हो प्रात, अथवा शाम हो,
आराम दिल पाये विना मुमकिन नहीं आराम हो।
घूघू निकल कर घोंसलों से घोर रव करने लगे,
मानो तमीचर तिमिर लख कर मोद मन भरने लगे ॥

७

शठ श्वान और शृगाल करके शोर दुख देने लगे,
मानो अविद्या देख दंभी दून की लेने लगे।
खेती हरी अवलोक कर अब कुछ हुए हैं मन हरे,
लौटे 'कृषकगण' आरहे हैं लट्ठ कन्धे पर धरे ॥

८

गाते मधुर कुछ गीत आते कुछ अभी चुप चाप हैं,
जैसे जगत में मुदित कुछ नर कुछ भरे सन्ताप हैं ।
मज़दूर मज़दूरी लिये अपने मकानों को चले,
मानो सुकर्मी स्वर्ग को लेकर विमानों को चले ॥

९

निज - निज भवन हैं जारहीं रक्खे सिरों पर झारियां,
करती परस्पर छेड़ उनमें कुछ नई पनिहारियां।
जिनकी प्रकृति में हास्य है, सिर पर यदपि दुख-भार हो,
वे चाहते हैं खेलते हँसते स्वजीवन पार हो॥

१०

हरिभक्त हरि हर के भजन में हो रहे तल्लीन हैं,
जैसे अगाध सरोवरों में पारहे सुख मीन हैं।
पाठक, समय है शाम का अवसर नहीं अब काम का,
रख कर स्वकर से लेखनी, लूं नाम मैं भी राम का॥

भक्त की अभिलाषा

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूं,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूं।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूं,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूं॥

२

तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूं,
तू है अगर दक्षिणपवन तो कुसुम की मैं धूल हूं।

तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसकी मीन हूं,
तू है पिता तो पुत्र मैं तव अंक में आसीन हूं ॥

३

तू अगर सर्वाधार है तो एक मैं आधेय हूं,
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या आश्रेय हूं ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूं,
तुझ को नहीं मैं भूलता हूं, दूर हूं या पास हूं ॥

४

तू है पतित-पावन प्रकट तो पतित मैं मशहूर हूं,
छल से तुझे यदि है घृणा तो मैं कपट से दूर हूं ।
है भक्ति की यदि भूख तुझ को तो मुझे तव भक्ति है,
अति प्रीति है तेरे पदों में, प्रेम है, आसक्ति है ॥

५

तू है दया का सिन्धु तो मैं भी दया का पात्र हूं—
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ करुणा मात्र हूं ।
तू दीन-बन्धु प्रसिद्ध है मैं दीन से भी दीन हूं ।
तू नाथ, नाथ ! अनाथ का असहाय मैं प्रभु हीन हूं ॥

६

तव चरण अशरण-शरण हैं, मुझ को शरण की चाह है,
तू शीतकर है दग्ध को, मेरे हृदय में दाह है ।
तू है शरद-राका शशी मम चित्त चारु चकोर है—
तव ओर तज कर देखता यह और किसकी ओर है ॥

७

हृदयेश ! अब तेरे लिये है हृदय व्याकुल हो रहा—
आ आ ! इधर आ !! शीघ्रआ !!! यह शोर यह गुल हो रहा।
यह चित्त चातक है तृषित, कर शान्त करुणावारि से—
घनश्याम ! तेरी रट लगी आठों पहर है अब इसे ॥

८

तू जानता मन की दशा रखता न तुझ में बीच हूं—
जो कुछ कि हूं तेरा किया हूं उच्च हूं या नीच हूं।
अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझको पड़े—
तज कर तुझे यह दास जाकर द्वार पर किसके अड़े ॥

९

तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूं—
सब भावनायें छोड़ कर अब कर रहा यह शोर हूं।
मुझ में समाजा इस तरह तन प्राण का जो तौर है—
जिस में न फिर कोई कहे मैं और हूं तू और है ॥

पं० मन्नन द्विवेदी "गजपुरी"

द्विवेदी जी का जन्म वि. सं. १९४२ में गजपुर (जि. गोरखपुर) में हुआ था। ये गवर्नमेंट कालिज बनारस के ग्रेजुएट थे। बचपन से ही इन्हें लेख लिखने का शौक था। जब ये छठे दर्जे में पढ़ते थे तब भी इनके लेख पत्र पत्रिकाओं मे छपते थे। इन की बहुत सी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें कतिपय ये हैं—राम लाल (उपन्यास), मुसलमानी राज्य का इतिहास (दो भाग) भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष, बन्धु विनय, धनुष भंग, आदि। ये आजमगढ़ में तहसीलदार नियत हुये थे और नौकरी छोड़ने का विचार ही कर रहे थे कि कराल काल ने उन्हें १९७८ः में ग्रास कर लिया। ये बड़े अच्छे लेखक और कवि थे। इनकी भाषा सजीव होती थी।

उद्बोधन

हिमालय सर है उठाये ऊपर,
बगल में झरना झलक रहा है।
उधर शरद के हैं मेघ छाये,
इधर फटिक जल छलक रहा है ॥१॥

इधर घना वन हरा भरा है,
उपल पै तरुवर उगाया जिस ने।
अचम्भा इस में है कौन प्यारे,
पड़ा था भारत जगाया उस ने ॥२॥

कभी हिमालय के शृंग चढ़ना,
कभी उतरते हैं थक के श्रम से।
थकन मिटाता है मंजु झरना,
बटोही छाये में बैठे थक के ॥३॥

कृशोदरीगन कहीं चली हैं,
लिये हैं बोझा छुटी है बेनी।
निकल के बहती है चन्द्रमुख से,
पसीना बन कर छटा की श्रेणी ॥४॥

गगन-समीपी हिमाद्रि शिखरें,
घरों में जलती हैं दीपमाला।
यही अमरपुर उधर हैं सुरगण,
इधर रसीली हैं देव-बाला ॥५॥

गिरीश भारत का द्वारपट है,
सदा से यह है हमारा संगी।
नृपति भगीरथ की पुण्यधारा,
बगल में बहती हमारी गंगी ॥६॥

बता दे गंगा कहां गया है,
प्रताप पौरुष विभव हमारा ?
कहां युधिष्ठिर, कहां है अर्जुन !
कहां है भारत का कृष्ण प्यारा ॥७॥

सिखा दे ऐसा उपाय मोहन,
रहें न भाई पृथक हमारे।
सिखा दे गीता की कर्मशिक्षा,
बजा के वंशी सुना दे प्यारे ॥८॥

अंधेरा फैला है घर में माधो,
हमारा दीपक जला दे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा,
दिवाली फिर भी दिखा दे प्यारे ॥९॥

हमारे भारत के नौ निहालो,
प्रभुत्व वैभव विकाश धारे।
सुहृद हमारे, हमारे प्रियवर,
हमारी माता के चख के तारे ॥१०॥

न अब भी आलस में पड़ के बैठो,
दशों दिशा में प्रभा है छाई।

उठो अंधेरा मिटा है प्यारे,
बहुत दिनों पर दिवाली आई ॥११॥

चमेली

सुन्दरता की रूपराशि तुम दयालुता की खान चमेली।
तुमसी कन्यायें भारत को कब देगा भगवान चमेली॥

चहक रहे खगवृन्द वनों में अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं देखो हुआ प्रभात चमेली॥

प्रेममग्न प्रेमी जन देखो करें प्रभाती-गान चमेली।
जिसने तुमसा वृक्ष लगाया कर माली का ध्यान चमेली॥

जग यात्रा में सहने होंगे कभी कभी दुखभार चमेली।
काट छांट से मत घबराना यह भी उसका प्यार चमेली॥

छिन्न भिन्न डालों का होना अपने ही हित जान चमेली।
हरे हरे पत्ते निकलेंगे सुमनों के सामान चमेली॥

भ्रमर भीर गुञ्जार करेगी, तुम से हास विलास चमेली।
दिगदिगन्त सुरभित होवेगा पाकर सुखद सुवास चमेली॥

अटल नियम को भूल न जाना जगमें सब का नाश चमेली।
अस्त अंशुमाली भी होता घूम अखिल आकाश चमेली॥

नहीं रहेगा मूल न शाखा नहीं मनोहर फूल चमेली।
निराकार से मिलकर होना प्रियतम-पद की धूल चमेली॥

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी का जन्म वि० सं० १६४३ में चिरगांव ज़िला झांसी में हुआ था। आप बड़े प्रसिद्ध कविता–लेखक हैं। आप का स्थान आधुनिक काल के खड़ी बोली के कवियों में अत्युच्च है। आप की कविता का प्रवेश दिहात की झोपड़ियों से लेकर राजा महाराजों के महलों तक, और पढ़े लिखे छोटे बच्चों से लेकर बड़े बूढ़ों तक–में एक जैसा है। इनकी कविताएं बहुत सीधी-सादी, शिक्षाप्रद और प्रभावोत्पादक होती हैं। लोग इन्हें बड़े चाव से पढ़ते हैं। आपके मौलिक तथा अनुवादित काव्य ग्रन्थों की संख्या २० के लगभग है। आपके लिखे ग्रंथों में भारत-भारती, जयद्रथवध, और रंग में भंग बहुत प्रसिद्ध हैं। नवयुवकों के हृदयों में राष्ट्रीय भावों को जागृत करने में आप की कविता ने अच्छा योग दिया है। स्वदेशी के आप बड़े पक्षपाती हैं। अपने अवकाश के समय को चरखा कातने में लगाते हैं।

मातृ-भूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन है,
बन्दी विविध विहंग, शेषफन सिंहासन है॥
करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेष की !
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही,
सगुणमूर्ति सर्वेश की।

मृतक-समान अशक्त विवश आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था !
जो जननी का भी सर्वदा
थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
मातृभूमि मातामही॥

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूल भरे हीरे' कहलाये।

हम खेले कूदे हर्षयुत,
जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि ! तुझको निरख
मग्न क्यों न हों मोद में ?

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता।
उन सब में तेरा सदा
व्याप्त हो रहा तत्त्व है
हे मातृभूमि ! तेरे सदृश
किसका महा महत्त्व है ?

निमल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षट् ऋतुओंका विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में
तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि ! दिनमें तरुणि
करता तम का नाश है।

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं ;
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।

ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातुवर-रत्नों वाली;
आवश्यक जो होते हमें,
मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि! 'वसुधा', 'धरा'
तेरे नाम यथार्थ हैं॥

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी;
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी;
मृदु मलय-वायु मानो तुझे,
चन्दन चारु चढ़ा रही।
हे मामृभूमि! किसका न तू,
सात्विक-भाव बढ़ा रही॥

क्षमामयी, तू दयामयी है क्षेम मयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी दुख-हर्त्री है,
भयनिवारिणी शान्तिकारणीसुख कर्त्री है;
हे शरण-दायिनि देवि! तू,
करती सबका त्राण है।
हे मातृभूमि! सन्तान हम,
तू जननी, तू प्राण है॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान् ! कभी हम रहें न न्यारे ;
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे ;
उस मातृभूमि की धूल में,
जब पूरे सज जायँगे ।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,
आत्मरूप बन जायँगे ॥

वार वार तू आया,
पर मैंने पहचान न पाया ।
हिम-कम्पित कृशपाणि पसारे,
पहुँच बुभुक्षित मेरे द्वारे,
तूने मेरा धक्का खाया,
वार वार तू आया ।

दीन दृगों से निकल पड़ा तू,
बड़ा सरस था विकल बड़ा तू,
पर मैं कौतुक से मुसकाया,
वार वार तू आया ।

गलिताङ्गों का गन्ध लगाये,
आया फिर तू अलख जगाये,
हट कर मैंने तुझे हटाया,
वार वार तू आया ।

आर्त गिरा कानों में आई,
वह थी तेरी आहट लाई,
पर मैं उस पर ध्यान न लाया,
वार वार तू आया।

पीड़ित के निःश्वास अरे रे!
मैं क्या जानूँ कर थे तेरे!
मुझ पर माया मद था छाया,
वार वार तू आया।

अब जो मैं पहचानूँ तुझको,
तो तू भूल गया है मुझ को,
मैं हूँ जिसने तुझे भुलाया।
वार वार तू आया,
पर मैंने पहचान न पाया॥

इन्द्र जाल।

अच्छा इन्द्रजाल दिखवाया!
खोलूं जबतक पलक कौतुकी,
तुमने पेड़ लगाया!

भाँति भाँति के फूल खिले हैं,
रंग-रूप रस-गंध मिले हैं,
भौंरे हर्षसमेत हिले हैं,
गुंजारव है छाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

उड़ उड़ कर पंछी आते हैं,
फुर फुर कर फिर उड़ जाते हैं,
क्या लाते हैं, क्या पाते हैं,
तब भी पता न पाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

यह जो अम्ल मधुर फल लाया,
उसने किसे नहीं ललचाया,
वह पछताया जिसने खाया,
और न जिसने खाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

पहले के पत्ते झड़ते हैं,
उड़ते हैं गिरते पड़ते हैं,
नवदल रत्न तुल्य जड़ते हैं,
यह क्रम किसे न भाया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

फल में स्वादु, सुगन्ध कुसुम में,
पर है मूल कहाँ इस द्रुम में,
क्या कहते हो, वह है तुम में,
राम तुम्हारी माया!
अच्छा इन्द्रजाल दिखलाया!

शरणागत

अब तो अवलम्बन तेरा है
होकर भी अस्तित्व नहीं-सा
आज कहीं भी मेरा है।

जो प्रकाश था, बुझा अचानक झंझा के झोंकों से।
खड़े रह गये हैं सब साथी चित्रित-से चौंकि-से॥

यह विस्तीर्ण विश्व अब मानो—
एक सङ्कुचित घेरा है
चारों ओर अँधेरा है।
अब तो अवलम्बन तेरा है।

नहीं प्रकाशमात्र ने हम को छाया तक ने छोड़ा।
जाग हमारे हृदय-देव, अब जब सबने मुँह मोड़ा॥

सभी डरों में घिरा आज यह
बीच डगर में डेरा है।
अब भी दूर सवेरा है।
अब तो अवलम्बन तेरा है॥

लोचन प्रसाद पांडेय

आपका जन्म पौष शुक्ल १० सं० १६४३ में बालपुर जिला विलासपुर में हुआ। मध्यप्रान्तीय हिन्दी सहित्य सेवियों में आपका स्थान बड़ा ऊंचा है। आप सुकवि हैं सुयोग्य लेखक हैं और प्राचीन सहित्य के उत्कृष्ट तत्वान्वेषक भी हैं। हिन्दी में आपकी ११ कविता पुस्तकें प्रकाशित होचुकी हैं। इनके अतिरिक्त उड़िया में और अंग्रेजी में भी आपने कई पुस्तकें लिखी हैं।

आत्मत्याग

वीरभूमि मेवाड़ आर्य-गौरव-लीलास्थल,
अतुल जहाँ के शौर्य, जाति-अभिमान, वीर्य, बल !
है सतीत्व सद्धर्म का, जो पवित्र आगार,
गाता जिसका सुयश है, नित सारा संसार,
अमित आनन्द से ॥१॥

शुचि स्वदेश वात्सल्य, सत्य-प्रियता, सहिष्णुता,
आत्मत्याग, श्रम शक्ति, समर-दृढ़ता, रण-पटुता,
विमल धीरता, वीरता, स्वाधीनता अखण्ड,
करती है जिस भूमि को, उज्ज्वल भारत खण्ड
अखिल भूलोक में ॥२॥

है आदर्श अनूप जहाँ की सुयश कहानी;
पाती जिससे सहज अमरता कवि की वाणी,
शुभ्र कीर्ति मेवाड़ की, कर सगर्व कुछ गान
आज लेखनी ! अमरता, कर ले तू भी पान,
जन्म सार्थक बना ॥३॥

एक समय सानन्द राज्य का शासन करते,
निर्भय रख गो-विप्र प्रजागण के मन हरते,
वीर भूमि-मेवाड़ में सज्जन, सत्य प्रतिज्ञ,
राजसिंह राणा प्रवर थे भूपति वर विज्ञ,
शान्ति सुख से महा ॥४॥

पराधीन हैं, उन्हें जन्म भर दुख है नाना,
प्राप्त कहां स्वातन्त्र्य-सौख्य उनको मनमाना।
जब तक है मम हृदय में, स्वतन्त्रता की भक्ति,
जब तक है युग हस्त में, खड्गग्रहण की शक्ति।
न हूँगा दास मैं ॥१५॥
मर जाऊँ या विजय-पताका अचल उड़ाऊँ,
है धिक् जो रण बीच शत्रु को पीठ दिखाऊँ।
एक बार यमराज से, भी यथार्थ वर वीर,
लड़ने से रण में कभी, होते नहीं अधीर।
बात फिर कौन यह ॥१६॥
इसी भाँति बहुकाल पड़े अति शङ्कालय में,
भभक उठी क्रोधाग्नि विषम युवराज-हृदय में।
नयन युगल विकराल, मुख बाल-भानु सम लाल,
विकट रूप धारे प्रकट, यथा निकलती ज्वाल!
अङ्ग प्रत्यङ्ग से ॥१७॥
कहा भृत्य से वचन उन्होंने फिर भय खो के,
हृदय-क्षेत्र में विमल बीज वीरोचित बो के—
जाऊँगा न कदापि मैं; अब राणा के पास,
व्यर्थ कराने के लिए, अपना ही उपहास।
खबर यह जा सुना" ॥१८॥
हुई शान्त क्रोधाग्नि अन्त में जब कुछ क्षण में,
भीमसिंह ने तनिक विचारा अपने मन में।
जाने में है हानि क्या, ग्लानि तथा भय लाज,
चल देखूँ तो क्या मुझे, कहते हैं नृप-राज।
भला वह भी सुनूँ ॥१९॥

यही सोच कर भीमसिंह मन में रिस लाये,
राजसिंह नृपराज निकट तत्क्षण ही आये,
किन्तु हुए विस्मित महा, देख दशा कुछ अन्य,
बैठे हैं राणा प्रवर, चिन्तित चित्त अनन्य।
शीश नीचा किये ॥२०॥

दशा देख यह भीमसिंह ने अचरज माना,
तथा गूढ़ वृत्तान्त भूप के मन का जाना।
अस्तु, हो गया अन्त में, बोध उन्हें भरपूर,
शान्ति हुई सब भ्रान्ति की, क्रोध ज्वाल हो दूर।
हृदय आगार से ॥२१॥

जब राणा ने भीमसिंह को देखा सम्मुख,
कहा "वत्स प्रिय भीमसिंह" ! कर नीचे को मुख।
सुन कर यह करुणा भरी, भूपतिवर की बात,
भीमसिंह अति चकित हो, बोले कम्पित गात।
'पिता जी ! हाँ, कहो" ॥२२॥

मधुर बात कर श्रवण पुत्र की अचरज सानी,
कही नृपति ने पुनः सँभल कर के वर बाणी।
"प्यारे सुत ! धिक् है मुझे, मैंने तुमसे हाय,
मोह-जड़ित चित भ्रमित हो, किया बड़ा अन्याय।
स्वीय अविचार से ॥२३॥

सुनते ही निज पिता-वचन सब संशयमोचन,
हुये अश्रुमय भीमसिंह के दोनों लोचन।
किया उन्होंने चित्त में, अपने यह अनुमान,
अब राणा के हृदय का, मिटा पूर्व अज्ञान।
दया से ईश की ॥२४॥

राणा ने फिर कहा "पुत्र ! अब रहो अचिन्तित,
करो न पश्चात्ताप हुई होनी उसके हित।
भीमसिंह ! सच मान लो राज्यासन अधिकार,
देऊँगा कल मैं तुम्हें, न्याय नीति अनुसार।
छोड़ सब भिन्नता ॥२५॥

"एक बात पर, बड़ी कठिन आ पड़ी यहाँ है,
प्रकट भयँकर खड़ी कलह की जड़ी यहाँ है।
जयसिंह का जिस वस्तु पर है न लेश अधिकार,
समझ रहा है वह उसे, स्वीय गले का हार।
हाय ! मम भूल से ॥२६॥

यदि निराश हो जाय आज वह एकाएकी,
खड़ा करेगा विघ्न विषम बनकर अविवेकी।
दोनों दल के समर से, अगणित बिना प्रमाण,
तुरत व्यर्थ ही जाँयगे, कितनों ही के प्राण।
इसी अज्ञान से ॥ २७ ॥

"शूलप्राय यह बात हृदय में मम गड़ती है,
नहीं एक भी युक्ति सूझ मुझको पड़ती है।
एक जने के हित निहत, हों यदि लाखों, हाय,
कहो कहो यह है न क्या वत्स ! घोर अन्याय ?
धर्म की रीति से" ॥ २८ ॥

सुनी बात यह भीमसिंह ने नृप मति जानी,
तथा चित्त में नृपति न्याय निष्ठा अनुमानी।
चरण निकट रख खड्ग निज आँखों में भर नीर,
पितृ प्रेम लख मुग्ध हो बोला यों वह वीर।
अमृत साना हुआ ॥ २९ ॥

"चिरञ्जीव जयसिंह अनुज मेरा अति प्यारा,
सुख दुख में आधार सदा सर्वत्र सहारा।
दे सकता उसके लिये, मैं हूं अपने प्राण,
तुच्छराज पद दान फिर, है क्या बात महान।
उचित सम्मान से ॥ ३० ॥

"यद्यपि कुमति-प्रलिप्त लोभ-वश होकर अन्धा,
उस ने मेरे लिये रचा है गोरखधन्धा।
एक प्राण, दो देह से, थे हम दोनों भ्रात,
आज भिन्नता का हुआ भीषण वज्राघात।
कपट के व्योम से ॥ ३१ ॥

दुनिया में हे तात! जिन्दगी है दो दिन की,
हुई भलाई कहाँ लड़ाई से किन किन की?
करता है जयसिंह क्यों, व्यर्थ कलह का काम?
मातृ-प्रेम से रिक्त है, क्या उसका हृद्धाम?
धर्म जो तज रहा ॥ ३२ ॥

"भक्ति-युक्त जयसिंह मांग ले कपट विसारे,
देता हूँ मैं शीश, प्रेम से, उसे उतारे।
पर जो वह अन्याय से, त्यागेगा कुल-रीति,
ग्रहण करूँगा मैं अहो! पाण्डव-गण की नीति
न्याय की भीति से ॥ ३३ ॥

दिया आपने राज्य, हर्षपूर्वक लेता हूँ।
जयसिंह को फिर वही मुदित हो मैं देता हूं।
कथन आप यह लीजिये, सत्य सत्य ही मान,
होगा कभी न अन्यथा, मम प्रण विकट महान।
अचल है सर्वथा ॥ ३४ ॥

त्याग राज्य चिर-ब्रह्मचर्य्य-व्रत में रत हो के,
हरी भीष्म ने व्यथा पिता की शङ्का खो के।
तज कर निज तारुण्य को, पुरु ने धन्य समर्थ !
लिया जरा को मोद से, पूज्य पिता के अर्थ।
जान कर्तव्य निज ॥ ३५ ॥

"रामचन्द्र ने स्वयं पिता की आज्ञा मानी,
लिया गहन बनवास तुच्छ सुख-सम्पति जानी।
जो न पिता-आज्ञा करूँ पालन किसी प्रकार,
तो मुझको धिक्कार है, वार वार शतवार।
जन्म मम व्यर्थ है ॥ ३६ ॥

"यदि रहने से यहाँ कदाचित् मेरे मन में,
राज्य लोभ हो जाय कहीं सहसा कुक्षण में।
इस कारण यह लीजिये, तज कर मैं घर द्वार,
छोड़े देता हूँ अभी, मातृभूमि मेवार।
जन्म भर के लिये" ॥ ३७ ॥

इतना कह कर भीमसिंह निज प्रण-पालन-हित,
शान्त-भाव से भक्ति-युक्त हो अति प्रमुदित चित।
कर प्रणाम नृपराज को, धारे हिये उमङ्ग,
छोड़ राज्य वह चल पड़े, कुछ अनुचर के सङ्ग।
कहीं वाहर अहा ! ॥ ३८ ॥

वाहर जाते हुए फेर मुँह भीमसिंह ने,
मातृ-भूमि को निरख नयन भरलाये अपने।
कही वात जो उन्होंने, उस अवसर पर मित्र !
श्रवण योग्य वह सर्वथा, है स्मरणीय पवित्र।
[illegible] ई ! ॥ ३९ ॥

"धर्मबद्ध हो जननि ! आज तुझको तजता हूँ,
निश्चिन्तित हो दिव्य-दीनता में भजता हूँ।
किन्तु मृत्यु-पर्य्यन्त भी, माँ ! मेरे ये प्राण,
रक्खेंगे गौरवसहित, मातृभूमि का ध्यान।
अमित अभिमान से ॥ ४० ॥

"स्वाधीनता अखण्ड, विमल बल विक्रम तेरे,
"जावेंगे अन्यत्र हृदय से कभी न मेरे।
"अस्तु, विनय अन्तिम यही, तुझसे अम्ब ! सभक्ति,
"दे निज प्रति सन्तान को आत्मत्याग की शक्ति।
धैर्य दृढ़ता-सनी !!" ॥ ४१ ॥

बीता जब कुछ काल, भीमसिंह के सब साथी,
आये अपने देश लौट, ले घोड़े हाथी।
भीमसिंह पर लौटकर, आये नहिं हा हन्त !
आया तो आया मरण-समाचार ही अन्त,
लौट उस वीर का ॥ ४२ ॥

धन्य धन्य हे भीमसिंह ! प्रण के अनुरागी
सज्जन, सत्य-प्रतिज्ञ, विज्ञ, त्यागी बड़भागी !
धन्य आपका प्रण तथा, आत्मा-त्याग, आदर्श,
धन्य धर्म-दृढ़ता तथा, भ्रातृ-प्रेम-उत्कर्ष
धन्य तब वीरता ॥ ४३ ॥

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदी जी का जन्म वि० सं० १९४५ में चैत्र शुक्ल एकादशी को हुआ था। इनका निवासस्थान खंडवा (मध्य प्रदेश) है। आज कल ये कर्मवीर के सम्पादक हैं। 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से इनकी कविताएँ प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं। राष्ट्रीय कवियों में इनका आसन अत्युच्च है। ये जेल यात्रा भी कर चुके हैं। स्वभाव के सीधे सादे और अपने विचार के बड़े दृढ़ हैं। मध्य प्रदेश में इनका बड़ा मान है। इन्हें लोग नेता मान पूजते हैं। इनका लिखा 'कृष्णार्जुनयुद्ध' नामी नाटक अति प्रसिद्ध है। पद्य-रचना तो इनकी सुन्दर रहती ही है किन्तु इनके गद्य लेखों में भी कविता की भाषा का सौन्दर्य छलकता रहता है। ये अखिल भारतवर्षीय सम्पादक सम्मेलन के सभापति हो चुके हैं।

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली ! उस पथ में देना तुम फेंक !
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक ।।

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे-फलवाले ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो-पनपाओ, लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनियाँ पलटा दी प्रबल उमङ्गों के बल में ।
लो ! हम तो चल दिये, नये पौधो—प्यारो ! आराम करो ।
दो दिन की दुनियाँ में आये, हिलो मिलो कुछ काम करो ।

पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं, जो थे बागीचे जाते,
झुकी टहनियाँ तोड़ नोड़ कर, वनचरभी खा जाते हैं,
शाखामृग कन्धों पर चढ़ कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा बन्धु, जीवित हैं, हाँ हरियाले हैं,
भूले भटके कभी गुजरना, हम वे ही फल वाले हैं ।।

जयशंकरप्रसाद

आपका जन्म सं० १९४६ में काशी में हुआ। आप एक समृद्ध परिवार से हैं। बचपन में ही पूज्य पिता के स्वर्गवास हो जाने के कारण सब घर गृहस्थी का भार आपके ऊपर आ पड़ा। ऐसे समय आपकी शिक्षा घर पर ही होती रही।

आप हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि, गल्प-लेखक और नाटककार है। हिन्दी में छायावाद और भिन्न तुकान्त कविता (Blank Verse) के जन्मदाता आपही हैं। अब तक आपकी १६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जिन में अजात शत्रु, स्कंद गुप्त, आंसू तथा प्रतिध्वनि मुख्य हैं।

रसाल-मंजरी

ऋतुनायक के कृपा दृष्टि ते यह अति लोनी।
धार्यो नवल "रसाल-मंजरी" सुघर सलोनी॥
कछुक मधुर मकरन्द अबहिं यामें भीन्यो है।
अबलों कोउ मधुकर मरन्द नाहिं लीन्ह्यो है॥

अहो विमल मलयानिल! नेक धीर धरि आवो।
कावेरी के रम्यतीर मों वेगि न धावो॥
बरबस कुलकामिनि अंचल को नाहिं उड़ावो।
नव मुकलित मंजरी अहै इत धीरे आवो॥

अरे नेक हटि बैठु डार पै ते सुन कोकिल।
सुनि तव पंचम राग जात मंजरी अहै हिल॥
तव नैनन की लाली यह तो सहि ना सकि है।
नेक मधुर स्वर बोलु पास रहि कैसे बकि है॥

क्यों इतनी इतराइ चले आवत ही इत को।
नेकहु रखत विचार नहीं हो अपने हित को।
फुल्ल कुमुद वन माहिं कीजिये तो लौं केली।
मलयानिल! जो लौं विकसै मंजरी नवेली॥

पीत—पटी कटि माहिं रंग सांवरो निहारो।
सबही भांति नन्दनन्दन को हौ अनुहारो॥
करत फिरत मधुपान कुसुम नित नित प्रवीन सों।
मधुकर ! यह मंजरी अहै समुदित नवीन सों॥

बिनवौं तुमसों नेक कृपा करिकै सुनि लीजै—
समुझि सिखावन भलो चित्तमें ठांव सुदीजे—
चंचलता तजि देहु अजू अपनी विचारिकै—
मंजु मंजरी पाइ भार दीजे सम्हारि के।

———

किरण

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण सरसिज किञ्जल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

अरुण-शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली-लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो—जैसे तुम कौन ?
उषा के अञ्चल में अश्रान्त।

भला, उस भोले मुख को छोड़
चली हो किसे चूमने भाल,
खेल है कैसा--या है नृत्य ?
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधुधारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर,
प्रकृति को देती परमानन्द
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन ?—
मिलाती हो उससे भूलोक,
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध—
बना दोगी क्या विरज, विशोक ?

सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किसको मधुर
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?

चपल, ठहरो—कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथशून्य अनन्त,
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया--वहाँ वसन्त।

पं० रामनरेश त्रिपाठी

त्रिपाठी जी का जन्म वि० सं० १९४६ में कोइरीपुर, ज़िला जौनपुर में हुआ था। इन के मिलन तथा पथिक काव्यों से इनकी अच्छी प्रसिद्धि हुई है। इन के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'कविता-कौमुदी' ग्रंथमाला के प्रकाशन से लोगों का अत्युपकार हुआ है। साहित्य में इस विषय की वे पहली ही पुस्तकें थीं। गद्य में भी इन्होंने कई छोटी मोटी पुस्तकें लिखी हैं और बाल साहित्य को भी इन्होंने खूब उन्नत किया है। इनकी कविता भावमयी होती है। इस समय ये हिन्दी मंदिर प्रयाग के स्वामी और ऊँचे दर्जे के प्रकाशक माने जाते हैं यह उन्नति इनके अपने परिश्रम और अध्यवसाय का फल है।

तेरी छवि

हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में।
तेरी ही छवि का विकास है कवि की वाणी में, मन में॥

माता के निःस्वार्थ नेह में प्रेममयी की माया में।
बालक के कोमल अधरों पर मधुर हास्य की छाया में॥

पतिव्रता नारी के बल में वृद्धों के लोलुप मन में।
होनहार युवकों के निर्मल ब्रह्मचर्यमय यौवन में॥

तृण की लघुता में पर्वत की गर्व-भरी गौरवता में।
तेरी ही छवि का विकास है रजनी की नीरवता में॥

ऊषा की चंचल समीर में खेतों में, खलियानों में।
गाते हुये गीत सुख दुख के सरल स्वभाव किसानों में॥

श्रमी किन्तु निर्धन मजूर की अति छोटी अभिलाषा में।
पति की बाट जोहती बैठी गरीबनी की आशा में॥

भूख-प्यास से दलित दीन की मर्म-भेदिनी आहों में।
दुखियों के निराश आँसू में प्रेमी जन की राहों में॥

मुग्धमोर के सरस नृत्य में कोकिल के पंचमस्वर में।
वन-पुष्पों के स्वाभिमान में कलियों के सुन्दर घर में॥

निर्जनता की व्याकुलता में संध्या के संकीर्तन में।
तेरी ही छवि का विकास है संतत पर-हित-चिन्तन में॥

खोल चंद्र की खिड़की जब तू स्वर्ग सदन से हँसता है।
पृथ्वी पर नवीन जीवन का नया विकास विकसता है॥

जी में आता है, किरनों में घुल कर केवल पल-भर में।
बरस पड़ूँ मैं इस पृथ्वी पर-विस्तृत शोभा-सागर में॥

—०—

ज्ञान का दंड

१

सावन के श्याम घन शोभित गगन में,
धरा में हरे कानन विमुग्ध करते हैं मन।
बकुल कदंब की सुगंध से सना समीर,
पूरब से आकर प्रमत्त करता है तन॥
पर दूसरे ही छन आकर कहीं से, घूम,
जाते हैं नयन में अकिंचन किसान जन।
सारे सुख साज छन जाते हैं विषाद रूप,
ज्ञानी को हैं ज्ञान दंड सुखी है विमूढ़ जन॥

२

देखते हैं मृग याद आती मृगलोचनी है
फिर भूखे भारत के दृग याद आते हैं।
केकी के कलाप कोकिला के कल गान में,
विलाप विधवा का हम नित सुन पाते हैं॥
अत्याचार पीड़ित किसान के रुदन में,
पयोद के विनोद हम भूल भूल जाते हैं।
भोग सकते न सुख भूल सकते न दुख,
यों ही दुविधा में पड़े जीवन बिताते हैं॥

पथिक

१

मार्ग बुहार बुहार थकी मैं प्रतिदिन सांझ सवेरे।
हार गई मैं बाट जोहती आये नाथ न मेरे।।
कोई आकर प्रीतम का कुछ संदेशा कह जाता।
जाते हुए प्राण से आंखों का आग्रह रह जाता।।

२

घायल सी मैं तड़प रही हूं किस को व्यथा सुनाऊँ!
किससे पूछूँ कहूँ सन्देशा पाती कहां पठाऊं!
हाय! बटोही भी अब कोई इधर नहीं आते हैं।
देख दूर से मुझ दुखिया का घर फिर कर जाते हैं।।

३

रही उडीक द्वार पर मैं हूं अन्त घड़ी जीवन की।
पूर्ण करो हे नाथ! शेष है एक साधु दर्शन की।।
एक बार आओ आंखों में मूंद तुम्हें मैं लूंगी।
देखूँगी मैं फिर न और को तुम्हें न दिखने दूंगी।।

४

खिड़की से रहती हूं दिन भर पथ पर आंख बिछाये।
प्राणाधार नहीं तुम आये हा! अन्तिम दिन आये।।
सपने में तुम नित आते हो मैं हूं अति सुख पाती।
मिलने को उठती हूं सौतिन आंख प्रथम उठ आती।।

५

असहनीय उस समय हृदय में विरह-वेदना होती।
सो कर खोती है दुनियां मैं हाय! जाग कर खोती॥
आते पास आँख लगते ही खुलते ही छिप जाते।
भूल भुलैयां-खेल नाथ! क्यों हाय! मुझे तरसाते॥

६

ता है सूचना पपीहा हवा किवाड़ बजाती।
तुम को आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती॥
किन्तु विफल हो हाय! हृदय को थाम लौट आती हूँ।
योंही अगणित बार रात दिन में धोखा खाती हूँ॥

७

जब से हे प्राणेश! हृदय में सुधी आ बसी तुम्हारी।
मुझे छोड़ कर कहां गई तब से मेरी सुधि सारी॥
भागीं छोड़ विरह-विपदा में सुख की सखी सहेली।
मतलब की दुनिया है देखो, मैं रह गई अकेली॥

८

भूख प्यास फिर पास न आई मेरी देख उदासी।
पड़ी कहीं पर सोती होगी नींद आलसिन दासी॥
काग! साध अब पूरी करलो चुन चुन कर इस तन को।
देना छोड़ दया करके प्रिय-दर्शन-व्रती नयन को॥

९

धोकर नभ-नीलिमा उदित अन्तर में लता-निकर के।
पथिक-दृष्टि के आकर्षक हिमकर का दर्शन करके॥
शान्त हुई मैं, निशिभर शशि पर निश्चल दृष्टि रखूँगी।
प्रिय के दृष्टि स्पर्श-जनित सुख का मैं स्वाद चखूँगी॥

१०

हे भगवान ! घास में होती प्रिय उस पर पग धरते !
अति कृतज्ञ होती प्रिय पद की धूलि मुझे तुम करते ॥
प्राणों का आराम वही, आनन्द वही है मनका ।
आत्मा की है शान्ति वही जीवन है इस जीवन का ॥

११

ईर्ष्यावान दुरात्म-हृदय सा जेठ लगा अब जलने ।
आम धूलि धूसरित दिशायें ज्वाला लगीं उगलने ॥
हवा हो गई प्राणहारिणी हुए जलस्थल ताते ।
मेरे पथिक सघन छाया में होंगे कहीं जुड़ाते ॥

१२

रिमझिम बरस रहे सावन घन उमड़ घुमड़ अलबेले ।
तरुतल कहीं भीगते होंगे मेरे पथिक अकेले ॥
'घर पर जाओ, पथिक मिलेंगे' यह आज्ञा मुनिवर की ।
मान मुदित हो स्वयं बन्दिनी हुई हाय ! इस घर की ॥

१३

उन्मादिनी विरहिणी यों ही नित प्रलाप करती थी ।
रोती कभी, कभी हँसती थी, कभी आह भरती थी ॥
नाम मात्र थी देह, त्वचावृत निरा अस्थिपंजर था ।
शक्तिहीन निर्बल नितान्त तन विरह व्याधि का घर था ॥

१४

सिन्धु तीर पर प्रिय दर्शन के बाद कई वत्सर से ।
आशा ही में रही विरहिणी हटी न पल भर घर से ॥
कढ़ती थी प्रत्येक सांस उसकी प्रियनामकथन को ।
जीती थी वह एक बार अन्तिम प्रियके दर्शन को ॥

अन्वेषण

मैं ढूँढता तुझे था जब कुञ्ज और बन में।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में॥

तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥

बनकर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
आँखें लगी थीं मेरी तब यार के बदन में॥

बाजे बजा बजा के मैं था तुझे रिझाता।
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में॥

मैं था विरक्त तुझ से जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में॥

बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था।
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहां चरन में॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था मैं मस्त था कथन में॥

हरिचंद और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में॥

मैं सोचता तुझे था रावण की लालसा में।
पर था दधीचि के तू परमार्थ-रूप तन में॥

तेरा पता सिकंदर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद-कोहकन में॥

क्रीसस के हाय में था करता विनोद तूही।
तू अंत में हँसा था महमूद के रुदन में॥

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तूही मचल रहा था मंसूर की रटन में॥

आखिर चमक पड़ा तू गाँधी की हड्डियों में।
मैं था तुझे समझता सुहराब पीलतन में॥

कैसे तुझे मिलूँगा जब भेद इस कदर है।
हैरान होके भगवन! आया हूं मैं सरन में॥

तू रूप है किरन में सौंदर्य है सुमन में।
तू प्राण है पवन में विस्तार है गगन में॥

तू ज्ञान हिन्दुओं में ईमान मुस्लिमों में।
तू प्रेम क्रिश्चियन में है सत्य तू सुजन में॥

हे दीनबन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू।
देखूँ तुझे दृगों में मन में तथा वचन में॥

कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥

दुख में न हार मानूँ सुख में तुझे न भूलूँ।
ऐसा प्रभाव भरदे मेरे अधीर मन में॥

ठाकुर गोपालशरणसिंह

आप का जन्म पौष शुक्ल प्रतिपदा वि० सं० १९४८ में हुआ था। आप रीवाँ राज्य में प्रथम श्रेणी के इलाकेदारों में हैं। आपके इलाके नई गढ़ी की प्रजा आपसे अति सन्तुष्ट है। आपको कविता से बाल्य-काल से ही प्रेम है। रुपये पैसे की आपको कुछ कमी नहीं है, अतः आप कविता शौक से करते हैं। आपकी कवितायें हिंदी के सभी मासिक पत्रों में, विशेषतः सरस्वती में प्रकाशित होती रहती हैं। अभी आप का कविता संग्रह 'माधवी' नाम से छपा है। आपकी कविता की भाषा सरल तथा मधुर और भाव स्वच्छ तथा उच्च होते हैं। सं० १९८२ में आप वृंदावन वाले अखिलभारतीय कवि सम्मेलन के सभापति हुए थे।

उन्माद

जब नहीं आकर किया तुमने हृदय में वास,
हो अधीर स्वयं चला तब वह तुम्हारे पास।
पर न तुमको पा सका की यद्पि बहुत तलाश,
लौट आया अन्त में होकर अतीव निराश ॥१॥

दृष्टि-गोचर हो न तुम कहते सभी मतिमान,
सत्य हम भी क्यों न फिर यह बात लेते मान।
लोचनों को मूँद कर करने लगे हम ध्यान,
हाय, तो भी कुछ हमें न हुआ तुम्हारा ज्ञान ॥२॥

चित्त देकर और सुनलो एक दिन की बात,
सो रहे थे हम पड़े, बीती हुई थी रात।
सामने तुम ही खड़े, ऐसा हुआ कुछ ज्ञात,
किन्तु जब आँखें खुली तब हुआ वज्र-निपात ॥३॥

खिल खिला कर हम कभी हँसते बहुत साल्हाद,
और रोते हैं कभी पाकर अतीव विषाद।
प्रेमवश करते तुम्हारा हम सदा गुणवाद,
लोग क्यों कहते भला हमको हुआ उन्माद ॥४॥

हो निराश हृदय हुआ है अब अतीव अधीर,
किन्तु सूखा जा रहा है क्यों सदैव शरीर ?
लोचनों को क्या व्यथा है जो बहाते नीर,
क्या इन्हें भी लग गया है, प्रेम का वह तीर ?॥५॥

सोच लो कब से बने हैं हम तुम्हारे दास,
क्यों हमें तुम कर रहे फिर बार बार निराश।
बस तुम्हीं कह दो जहां पर है तुम्हारा वास,
है पहुँचता प्रेम का भी क्या वहां न प्रकाश ॥६॥

कर रहे कबसे तुम्हारे हम गुणों का गान,
पर तुम्हें भी क्या कभी आया हमारा ध्यान!
दो बता हमको तुम्हारा है जहां संस्थान,
किस तरह होती वहां है प्रेम की पहचान ॥७॥

कुछ समझते हो परम शास्त्रज्ञ ज्ञान-निधान!
पर नहीं उनको तनिक भी है तुम्हारा ज्ञान।
देख कर यह बन गये हम अज्ञ मूढ़ महान,
हाय! तो भी चित्त में न हुआ तुम्हारा भान ॥८॥

यदपि अब तक है हुई तुम से नहीं पहचान,
किन्तु तुम सहृदय सरस हो है यही अनुमान।
अब अधिक जाता सहा न वियोग-दुःख महान्,
दे हमें दर्शन, करो अब तो कृतार्थ सुजान ॥९॥

गली में पड़ा हुआ रत्न

यदपि गली में अभी रत्न तू पड़ा यहाँ है,
और अनेकों कष्ट आज सह हाय! रहा है।
तुझे कुचलते हुए मनुज जाते हैं सारे,
देता तुझ पर ध्यान नहीं है कोई प्यारे।

पर इससे तेरी हीनता होती कुछ भी है नहीं।
जो अपमानित करते तुझे बुद्धिहीन वेही सही ॥१॥

यदपि रत्न ! तू यहाँ ! धूलि में सना हुआ है,
कङ्कड़ के ही तुल्य तुच्छ तू बना हुआ है।
तुझको आदर लोग नेक भी नहीं दिखाते,
तुझ पर से ही तुच्छ जीव कुछ आते जाते।
पर अपनावेगा जौहरी तुझको मित्र अवश्य ही,
जो है गुणज्ञ गुणवान का आदर करता है वही ॥२॥

अभी पड़ा रह रत्न यहाँ तू धीरज धारे,
राजमुकुट पर एक रोज़ बैठेगा प्यारे।
अथवा तेरा हार बना कर के कल्याणी,
पहनेगी अत्यन्त चाव से नृप की रानी।
जो तुझे न अब पहचानते उनके दृग खुल जायँगे।
वे हाथ मींज कर दुःख से फिर पीछे पछतायँगे ॥३॥

मत हो मन में खिन्न शीघ्र वह दिन आवेगा,
जब तू अपना रत्न ! उचित आसन पावेगा।
तेरा जौहर प्रगट रत्न ! जब हो जावेगा,
तब तेरे हित कौन न निज कर फैलावेगा ?
है बार बार आता यही मेरे तुच्छ विचार में,
दुख सहने पर ही उच्चपद मिलता है संसार में ॥४॥

पं० बदरीनाथ भट्ट

भट्ट जी आगरा निवासी हैं, और लखनऊ यूनिवर्सिटी में हिन्दी के अध्यापक हैं। आपके पिता पं०रामेश्वर भट्ट हिंदी के अच्छे लेखक थे। बी. ए. की डिग्री लेने के बाद से आप भी पूर्णतः हिन्दी ही की सेवा कर रहे हैं। आपके लिखे चन्द्रगुप्त, तुलसीदास, वेन चरित्र, तथा दुर्गावती नाटक हिन्दी साहित्य में पर्याप्त प्रतिष्ठा पा चुके हैं। आपके प्रहसन विवाह-विज्ञापन और लबड़ धों धों भी अच्छे प्रसिद्ध हैं। कुछ समय तक आप बाल-सखा के सम्पादक भी रहे हैं। आपकी फुटकर कविताएँ मासिक पत्रों में समय समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। आपकी भाषा सुन्दर और भाव उच्च रहते हैं। अभी आपने हिन्दी नामक एक विद्वत्तापूर्ण छोटी सी पुस्तक हिन्दी साहित्य के इतिहास पर लिखी है।

प्रातःकालीन तारों के प्रति

चिढ़ाते हो क्यों हमको यार,
धीरे धीरे टूट रहा है सभी तुम्हारा तार।

हँस हँस कर हमको निहारते,
आँखें मटकाते न हारते।
मिट जाओगे पलक मारते,
रहे मिनट दो चार।

निजको सुखी समझते हो तुम,
सब से तभी उलझते हो तुम।
अपनी बान न तजते हो तुम,
करो न आत्म-सुधार ॥

आसमान पर खड़े हुए हो,
सब से ऊँचे चढ़े हुए हो!
सब बातों में बढ़े हुए—
हुए न तनिक उदार ॥

जिस प्रभु ने है तुम्हें बनाया,
उसने ही सब जग प्रगटाया।
हमको भी उसने जन्माया—
तुम कैसे सरदार ?

पीछे से पछताओगे तुम,
रवि की ठोकर खाओगे तुम,
यम के घर उड़ जाओगे तुम—
ले कर्मों का भार ॥
चिढ़ाते हो क्यों हमको यार ॥

आत्म त्याग

दे रहा दीपक जल कर फूल;
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अन्धकार-हिय हूल ॥ १ ॥
इस के जीवन-तरु का केवल आत्मत्याग है मूल।
जिस के बल, मनहरण, सुरभिमय, खिलता है यश फूल ॥ २॥
जीवन-मरण-डोरियों पर, हां, आप रहा है झूल,
हँस हँस खाय हवा के झोंके, अपना आपा भूल ॥ ३ ॥
पर-हित-साधन में मर मिटना, होना नाश कबूल।
सुख पाता है सोच हृदय में—'जीवन हुआ वसूल' ॥ ४ ॥
तो भी मलिन पवन यह कैसा, हो इस के प्रतिकूल,
करने को इसका प्रभाव कम, उड़ा रहा है धूल ॥ ५ ॥
क्यों है यह इस का द्वेषी—यह शंका है निर्मूल,
सुजन-सुजनता होती ही है, दुर्जन को हियशूल ॥ ६ ॥
दे रहा दीपक जल कर फूल ॥

तुलसीदास और रामायण

सुलभ कर गये ब्रह्म का ज्ञान।
तरने को भव-सिन्धु बनाया राम नाम जलयान ॥ १ ॥
दृश्य-अदृश्य, अलौकिक-लौकिक मिले एक ही ठाँव,
भक्ति,ज्ञान,वैराग्य आदि आ बसे एक ही गाँव ॥ २ ॥

स्वार्थ और परमार्थ मिलाया, हुआ सार निस्सार,
अनुभव की कुंजी से खोला अगम मुक्ति का द्वार ॥ ३ ॥
मोह शिखर पर फँसे जनों को सीढ़ी है तय्यार ।
गिरने का है डर न ज़रा भी राम नाम आधार ॥ ४ ॥
रोम रोम में रमा तुम्हारे राम रूप संसार ।
भक्ति-प्रेम-अवतार धन्य है तुमको बारम्बार ॥ ५ ॥

सूखी पत्ती

पड़ी भूमि पर ठोकर खाती पीला तेरा रंग हुआ है ।
सब रस रूप समय ने लूटा, चुरमुर सारा अंग हुआ है ॥१॥
जिस पर रहती थी सवार नित, घुल घुल कर बातें करती थी ।
वही हवा अब धूल फेंकती, उलटा सारा ढंग हुआ है ॥ २ ॥
हुई चूर अभिमान-नशे में, सब पर हँसती झूम रही थी ।
कौन पूछता है अब तुम को, वह सुख सपना भंग हुआ है ॥३॥
सब के सिर पर चढ़ी हुई थी, अब सब पैरों तले कुचलते ।
ऊंचे चढ़ कर नीचा देखा, सभी रंग बदरंग हुआ है ॥ ४ ॥
जिस झोंरे पर झोंटे लेती, फूल फूल कर झूल रही थी ।
उसने भी है तुझे भुलाया, सारा प्रेम कुरंग हुआ है ॥ ५ ॥
अब क्या जुड़ सकती है तरु में, किसकी है तू कौन है तेरा ।
इस दुनियां में कोई किसी के दुख में कभी न संग हुआ है॥६॥
'दुःख क्या है' ?'अभिमान-प्रतिध्वनि' है आशा का रूप निराशा ।
है जीवन का हेतु मरण ज्यों मणिका हेतु भुजंग हुआ है ॥७॥
पड़ी भूमि पर ठोकर खाती—

———

सियारामशरण गुप्त

गुप्त जी का जन्म वि० सं० १९५२ में भाद्रपद शुक्लपूर्णिमा को हुआ था। आपका निवास स्थान चिरगांव, जिला झांसी है। आप हिंदी के एक होनहार कवि हैं। आपकी इस मनोवृत्ति पर आपके भाई श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त का विशेष प्रभाव पड़ा है। आपकी फुटकर कविताएं हिंदी के मासिक पत्रों में समय समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। जो प्राय: उच्च कोटि की होती हैं।

आपकी-मौर्य विजय, अनाथ और दूर्वादल इत्यादि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। साहित्य-समाज ने उनका अच्छा आदर किया है।

घट

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में,
किस निर्मम निर्दय ने मुझ को
बांधा है इस बन्धन में ?

फांसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूं;
बार बार इस अन्ध-कूप में
इधर उधर टकराता हूं।

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहां !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहां !

काँप रहा हूं, भय के मारे
हुआ जा रहा हूं म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊं मैं त्राण ?

सभी तरह हूं विवश, करूं क्या
नहीं दीखता एक उपाय,
यह क्या ? यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा मैं हाय !

भगवन्! हाय बचा लो अब तो,
तुम्हें पुकारूं मैं जब तक
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्तनाद कर के तब तक।

अरे, कहां वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं,
गौरववान हुआ हूं सहसा,
बना रहूं तो क्यों न यहीं!

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वलतर जीवन लेकर,
तुम से उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी दे कर।

विश्वदेव

१

हे विश्वदेव! दिये दिखाई आज तुम किस वेश में,
देखा तुम्हें प्राची-गगन में, पुण्य-पूर्ण स्वदेश में।
आलोक से उज्ज्वल तुम्हारा नील नभ ही भाल है,
निस्तब्ध आशिष सा अभय-कर यह हिमाद्रि विशाल है।

२

सागर चरण छू कर तुम्हारी चरण-रज है धो रहा,
हितकर हृदय पर 'जान्हवी' का हार शोभित हो रहा।
देखा हृदय को खोल कर बाहर तुम्हें सोल्लास है,
इस प्रिय सनातन देश में पाया तुम्हारा वास है।

३

हमने सुना स्तवमन्त्र तव गत तपोविपिनों में अहा !
मथकर अमर-ऋषि हृदय जो जगमें ध्वनित है हो रहा।
रविरूप में प्रातः समय हे देव ! उदयाकाश में—
तुम दीखते हो जब ग्रथित कर मुख सुवर्ण प्रकाश में।

४

प्राचीन नीरव कंठ से उस समय गायत्री कथा
उठती हुई सुनते यहां वन-विहग-रव-मय सर्वथा।
हे, देव ! है हमने सुना बाहर खड़े होकर अहा !
तव गान भारतवर्ष में कब से न जाने होरहा।

५

दृग मूंद कर हमने सुना जाने न कब किस वर्ष से।
तव सुखद शंख बजा रहा भारत हृदय से, हर्ष से।
जो लीन कर देता धरा का प्रबल रण-हुङ्कार है।
जो भेद जाता वणिकगण का विपुल धन झङ्कार है।

६

विरुद्ध गति निर्विघ्न जिसकी उच्च और उदार है।
गुंजित गगन करता हुआ उठता अहा ओंकार है।
भारत हृदय रूपी सुविकसित विमल शुभ्रसरोज में—
तव पद तले वाणी खड़ी है एक अद्भुत ओज में।

७

आनन्दमय उल्लासमय संगीत की शुभ तान से—
आकाश उथला जा रहा है एक अनुपम गान से।
देखा समय को सोच कर दृग मूंद एक निमेष में।
तव विजय का शुभ शंख है बजता हमारे देश में॥

पं० मुकुटधर पांडेय

पांडेय जी का जन्म वि० सं० १९५१ के आश्विन मास में हुआ था। ये विलासपुर के रहने वाले हैं। मैट्रिकुलेशन पास करने के पश्चात् ये कालिज में भर्ती हो गये किन्तु स्वास्थ्य अच्छा न होने के कारण कालिज छोड़ना पड़ा। इनके ज्येष्ठ भ्राता पं० लोचनप्रसाद जी पांडेय हिन्दी के एक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हैं। उन्ही के संसर्ग से प्रभावित हो ये बाल्य काल से ही पद्य-रचना करने लग गये थे। इनकी गद्य रचना भी उच्च कोटि की होती है। हिन्दी के अतिरिक्त इन्हें बंगला से भी अच्छी जानकारी है और उस की कई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद कर चुके हैं। आपको चित्र और संगीत कला से विशेष प्रेम है। प्रकृति के आप उपासक हैं। इन तीनों गुणों का कविता से संसर्ग होने से सोने पर सोहागे का काम करता है। यही बात पांडेय जी की सफलता में एक साधन है।

वसन्त-समीर

फिरती आज वसन्त-समीर ;
किसके दर्शन-हित यह ऐसी उत्सुक-हृदय अधीर !
कुसुमित किंशुक के उपवन में,
मुकुलित मंजु आम्र-कानन में,
जानें किस को ढूंढ रही है, व्याकुल तटिनी-तीर ।।
तरल चपल ले लहर उदारा,
नाच रही कलमय जलधारा ;
गूँज रही चहुँ ओर मनोहर, कोकिल की मधुगीर ।।
किसके भावों में निमग्न यह,
कहाँ जा रही प्रेम-लग्न यह,
प्राची में किसके स्वागत हित, बिछा लाल यह चीर ?

कुररी के प्रति

बता मुझे ऐ विहग विदेशी ! अपने जी की बात ।
पिछड़ा था तू कहां, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पड़े कभी के ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द ।
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द ।।
इस नीरव-घटिका में उड़ता है तू चिंतित-गात ।
पिछड़ा था तू कहां, हुई क्यों तुझको इतनी रात !

देख किसी माया-प्रान्तर का चित्रित चारु-दुकूल,
क्या तेरा मन मोह जाल में गया कहीं था भूल !

क्या उसकी सौदर्न्य-सुरा से गया हृदय तव ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब ?
या होकर दिग्भ्रान्त लिया था तूने पथ-प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ?
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ?
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग !
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल–विलाप !
बता ! कौन सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप !

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ?
या तुझको निज जन्मभूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टगे मनोहर मणियों के ये दीप ;
इन्द्रजाल तू उन्हें समझ कर जाता है न समीप ?
यह कैसा भयमय विभ्रम है, कैसा यह उन्माद ?
नहीं ठहरता तू ; आई क्या तुझे गेह की याद ?

कितनी दूर ? कहां ? किस दिशि में तेरा नित्य निवास ?
विहग विदेशी, आने का क्यों किया यहां आयास ?
वहां कौन तारा-गन करता है आलोक-प्रदान ?
गाती है तटिनी उस भू की बता, कौन सा गान ?
कैसी स्निग्ध समीर चल रही ; कैसी वहां सुवास ?
किया यहां आने का तू ने कैसे यह आयास ?

———

लज्जा-त्रस्त

होने में तव सम्मुख आज
नाथ ! सताती मुझको लाज ।
प्राङ्गण में है हुई जनों की भीड़ अपार
भरा शङ्ख-रव से है नभ का हृदयागार
सजता है पूजा का साज
नाथ, सताती मुझको लाज
मुझे सामने पा न करो जो कुछ अनुमान
समझो मुझको कुटिल तथा दम्भी अज्ञान
इसमें कुछ भी नहीं अकाज
नाथ, सताती मुझको लाज ।
मन्दिर-पथ में मुझे उठा जो कोई हाथ
पूछ बैठता—"कहाँ !"--विनत हो जाता माथ;
पुनः यहाँ तो भरा समाज,
नाथ, सताती मुझको लाज ।।
जब सन्ध्या को हट जायेगी भीड़ महान
तब आकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान
नहीं तीसरे का कुछ काज
नाथ, सताती मुझको लाज ।
शून्य-कक्ष के अथवा कोने ही में एक,
करूँ तुम्हारा बैठ यहीं नीरव-अभिषेक ।
सुनो न तुम भी वह आवाज़
नाथ, सताती मुझको लाज ।।

वियोगीहरि

आप का जन्म वि० सं० १९५३ की चैत्र शुक्ल नवमी (रामनवमी) को हुआ था। व्रजभाषा से आप का विशेष प्रेम है और उसी में प्रायः कविता किया करते हैं। व्रजभाषा के वर्तमान कवियों में आप का पर्याप्त ऊंचा स्थान है। आप की कविता रसीली और भावमयी होती है। गद्य-काव्य लिखने में आप सिद्ध-हस्त हैं। इसके अतिरिक्त सूर, तुलसी आदि कई प्रचीन कवियों के ग्रन्थों का आपने सम्पादन किया है।

आप के वीर-सतसई, अनुराग नाटिका कवि-कीर्त्तन इत्यादि-काव्य ग्रंथ, तथा पगली, साहित्य-विहार, अन्तर्नाद-भावना इत्यादि गद्य काव्य प्रकाशित हो चुके हैं। वीर सतसई पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला है।

यहाँ तू क्यों ठाड़ी पनिहारी !
औघट घाट साँझ की बिरियाँ, गागर सिर पै भारी ॥
छलकत नीर, डिगत सिर सागर, भीजि गई रँग सारी।
कहाँ गिराय दियौ कर-कँगना, कहाँ मुँदरिया डारी ॥
छिन पाछे, छिन आगे देखति, घूमति ज्यों मतवारी।
सुरत तिहारी कहाँ हिरानी, छाई दृगनि खुमारी ॥
झूमति झुकति पिये प्रेमासव नेह-बान की मारी।
मटुकी पटकि मिलै किन हरि सों,सोचति कहाँ गँवारी॥

कैसे हुँ जो अपबस करि पाऊँ।
जीवन-धन, तौ तुम्हैं खोलि हिय जिय कौ मरम सुनाऊँ॥
या उर अंतर प्रेम-कुटी रचि पल-पाँवड़े बिछाऊँ।
भाव-सेज सजि अति मृदु तापै नाथ ! तुम्हैं पौढ़ाऊँ॥
तहँ पलोटि पद-पदुम तुम्हारे ललकि-ललकि बलि जाऊँ।
लाय लाय शीतल रज नैननि जिय की जरनि सिराऊँ॥
बूड़ि तुम्हारे स्याम-रंग मधि मानस-पटहिं रँगाऊँ।
सहज पखारि पुरातन कारिख पल में धवल बनाऊँ॥
ललित त्रिभंगी गति नट नागर ! उमँगि उमँगि उर ध्याऊँ।
कठिन कुटिल गति या चित की, प्रभु,कोमल सरल सधाऊँ॥
बँधिकैं तुम्हरी अलक-डोरि सों, हरि, भव-फंद छुड़ाऊँ।
लहि मुसकान-माधुरी मोहन, पट-नव रसनि भुलाऊँ॥
सींचि-सींचि तुव, कृपावारि नित करम-कुखेत सुखाऊँ।
लाल, तुम्हारे चपल चखनि बिच,रमि इत-उत नहिं धाऊँ॥
वेदवाद ज्ञानादि वादि कै प्रेम-प्रथा प्रगटाऊँ।
हरिलै बीन, लीन ह्वै तुव छवि, नित नव गुन गन गाऊँ॥

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी

त्रिपाठी जी का जन्म वि० सं० १९५५ में माघ सुदी एकादशी को हुआ था। इनका निवास-स्थान महिषादल स्टेट में है। कविता की ओर रुचि इनकी बचपन से ही थी। कुछ समय तक इनका झुकाव दर्शन शास्त्रों के अभ्यास की ओर भी रहा और लगभग दो साल तक 'समन्वय' का सम्पादन करते रहे। इन की कविताएँ हिन्दी की प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्रिकाओं में निकलती रहती है। कुछ फुटकर कविताओं का संग्रह 'अनामिका' नाम से प्रकाशित हुआ है। इन की रचना शैली निराली है। इन्हों ने हिन्दी कविता में एक नया युग उपस्थित कर दिया है।

क्या गाऊँ ?

क्या गाऊँ ?—माँ ! क्या गाऊँ ?
गूँज रही हैं जहाँ राग-रागनियाँ
गाती हैं किन्नरियाँ कितनी परियाँ,
कितनी पंचदशी कामनियाँ,
वहाँ एक यह ले कर वीणा दीन,
तन्त्री-क्षीण,—नहीं जिस में कोई झंकार नवीन,
रुद्ध-कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ ?

माँ !—क्या गाऊँ ?
छाया है मन्दिर में तेरे यह कितना अनुराग !
चढ़ते हैं चरणों पर कितने फूल
मृदु-दल सरस-पराग,
गन्ध-मोद-मद पीकर मन्द समीर
शिथिल चरण जब कभी बढ़ाती आती,

सजे हुए बजते उसके अधीर नूपुर-मंजीर,
कहाँ एक निर्गन्ध-कुसुम उपहार !
नहीं कहीं जिसके पराग-संचार-सुरभि-परिवार !!
कैसे भला चढ़ाऊँ ?
माँ ! क्या गाऊँ ?

———

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय श्रृंग, और मैं चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त-कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अन्धकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।

तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान॥
तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निच्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वन-घन-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल-शाखा॥
तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कंठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी॥
तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं इन अधरों की वेणु।

तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा।
तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला-हास,
मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।

तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी युक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर।
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघु-कुल-गौरव-रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति।

तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक, कल-कूजन तान।
तुम मदन पंचशर-हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान।
तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तडित्तूलिका-रचना।

तुम रणताण्डव-उन्माद नृत्य, मैं युवति-मधुर-नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद ओङ्कार सार, मैं कवि-शृङ्गार-शिरोमणि।
तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इन्दु-अरविन्द शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

गोविन्दवल्लभ पन्त

पन्तजी का जन्म सं० १९५६ में हुआ था। आपकी जन्मभूमि अलमोड़ा है। आप आज कल रानीखेत में ए० वी० स्कूल में अध्यापक हैं। आपकी कविताएँ सरल और भावपूर्ण रहती हैं। हिंदी के प्रत्येक मासिक पत्र में उनके समय समय पर दर्शन होते हैं। आपकी कविताओं में छायावाद की झलक रहती है। आप नवयुग के पोषक हैं। हिंदी साहित्य को आपसे विशेष लाभ की आशा है।

चंचलता

चंचलता ! कैसी चंचलता ! शासन करती है जग में ।
जल में, थल में, अनिल-अनल में, नभ में, मग में, पग-पग में ।।
चंचल पृथ्वी, चंचल दिनकर, चंचल हैं शशि-कर तारा ।
चंचल कादम्बिनी—चंचला, चंचल है वारिद्धारा ।
चंचल बिम्बाधर-तट-अङ्कित विमल हास्य-रेखा चंचल ।
चंचल अंचल-आश्रित अविरल अबला का चंचल दृग-जल ।
चंचल चंचलता किशोर की, चंचल ज्वाला यौवन की ।
चंचल अनुभव-प्राप्त-धीरता दीन वृद्ध के तनमन की ।
चंचल लक्ष्मी, चंचल शोभा, चंचल यौवन का सुवसन्त ।
अन्तशून्य धरणी-सीमा का चंचलता ही में है अन्त ।।
चंचल सुख-दुख, आशा-निराशा, चंचल संध्या और प्रभात
चंचलता के चक्र कुटिल में वन्दी मानव-कुल दिनरात ।।

कहाँ मिलेगा प्राणाधार,
प्राणाधार, स्नेहागार ?

मन्दिर के नीरव पत्थर में, भक्तों के शुचि सुमधुर स्वर में,
पृथ्वी में, नभ में, सागर में अनल-अनिल में, तिल-तिल भर में,

सुना तुम्हारा है आगार;
क्या यह सच है प्राणाधार ?

स्नेहमयी जसुमति के कर में, विरह-विधुर राधा-अन्तर में,
कृष्णा के अनन्त अम्बर में, या काली कुब्जा के घर में,

या इस वसुधा के उस पार;
कहाँ छिपा है प्राणाधार ?

क्या निष्फल होगा यह यौवन, नैश जागरण, दिन का रोदन,
क्या मेरा यह लघुतम जीवन, होगा शेष विना जीवन-धन,
क्या होगी यह व्यर्थ पुकार,
नहीं मिलेगा प्राणाधार ?

कल-कदम्ब, कालिन्दी-तट में, गिरि-गह्वर, वसुधा के पट में,
व्रज-वीथी, वन,वंशी-वट में, जन, जनपद पथ औ' पनघट में,
खोजा, खोज हुई लाचार;
नहीं मिला वह प्राणाधार ।।

उपहार

आज नवीन वसन्त-उषा में —
मेरी भग्न-कुटी के द्वार,
कौन नवीन अतिथि आया है
लेकर मृदु-नूपुर-झँकार ?

मेरी ही इस दीन दशा से—
करने को मेरा उपहास,
कौन कुंज में गूँथ रहा है
मेरी अश्रु-राशि से हार ?

अब कोयल के स्वर से मुझको—
क्यों होता है इतना राग—
भूल गया हूँ अब मैं गाना
टूट गये वीणा के तार ?

कैसे धैर्य धरूँ ?—इस मुख में—
लज्जा लट घूंघट का भार,
उधर, आम में बौर, बौर में
मधु, मधु में मधुकर गुञ्जार !

आहत स्मृति के निभृत निलय में—
है मम भग्न वासना सुप्त,
उसको छेड़ जगाने को यह
किसने किया आज शृंगार ?

आये ही हो तो आओ;
मैं छल से, बल से, कौशल से—
हर कर अखिल विश्व-श्री, मैं इन
चरणों में दूँगा उपहार।

सुमित्रानन्दन पन्त

आप का जन्म संवत् १६२७ में कैसानी जिला अल्मोड़ा में हुआ। अभी आठ दस साल से ही इन्होंने कविता लिखनी प्रारम्भ की है पर इतने काल में ही इनकी गणना हिन्दी कविता के नये युग प्रवर्त्तक कवियों में की जाने लगी है। छायावादी कवियों में आप प्रमुख हैं। आपकी कविता भावपूर्ण और रहस्यमयी होती है। युवक-समाज में इन का बड़ा आदर है। आपकी पल्लव, वीणा इत्यादि कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

मधुकरी

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान !

नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम
मुदित, कवि सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि ! जग में घूम;

सुना दो ना, तब हे सुकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान !

किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर;
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड़ उड़ भोर,

मुझे भी बतला दो न कुमारि !
मधुर निशि स्वप्नों के वे गान !

सूँघ, चुन कर, सखि ! सारे फूल,
सह बिंध, बँध, निज सुख-दुख भूल,
सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधुमूल;

पिला दो ना तव हे सुकुमारि !
इसी से थोड़े मधुमय गान;
कुसुम के खुले कटोरों से
करा दो ना कुछ कुछ मधुपान !'

मुसकान

कहेंगे क्या मुझ से सब लोग
कभी आता है इस का ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि हाय !
नहीं रुकती है यह मुसकान

विपिन में पावस के से दीप
सुकोमल सहसा सौ सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान !

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझ से चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !'

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ा कर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझ को उस पार;

नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान,
रोकने पर भी तो सखि! हाय!
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

अनङ्ग

अहो विश्व-अभिनय के नायक!
अखिल सृष्टि के सूत्राधार!
उर उर की कम्पन में व्यापक!
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार!

ऐ असीम सौन्दर्य सिन्धु की
विपुल वीचियों के शृङ्गार!
मेरे मानस के तरंग में
पुनः अनङ्ग बनो साकार

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

आप का जन्म लगभग १९५६ में हुआ था। जन्म स्थान उज्जैन है। आज कल आप 'प्रताप' (कानपुर) में श्रीयुत विद्यार्थी जी के साथ सहायक सम्पादक का काम कर रहे हैं। आप बड़े भावुक कवि हैं। आप की कहानियां भी बड़ी उत्सुकता से पढ़ी जाती हैं। आप के लिखे गद्य में भी कविता का मज़ा आता है। आप राष्ट्रीय दल के सच्चे सेवक हैं। आप की रचनाओं में राष्ट्रीयता के भाव कूट कूट कर भरे रहते हैं। आप से हिन्दी साहित्य को विशेष आशा है।

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिस से उथल-पथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए—एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का—धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ, भस्मसात् भूधर हो जाएँ,
पाप, पुण्य, सदसद्भावों की—धूल उड़ उठे दाएँ-बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएं,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ-जिस से उथल-पथल मच जाए।

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे--वे शोणित की घूँटे हो जाएँ,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,
अन्धे मूढ़-विचारों की वह--अचल-शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कँपा देने वाला गर्जन उठ धाए,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक गर्जन की ध्वनि मँडराए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिस से उथल-पुथल मच जाए॥

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे,--उस महारुद्र का सिंहासन थर्राए,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्‌वास, विश्व के प्रांगण में घहराए,
नाश! नाश!! हा महानाश!!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ--जिससे उथल-पुथल मच जाए!!

सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिजरावें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं.
कण्ठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध-युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्षुब्ध-तान--निकली है मेरे अन्तर तर से।

कण-कण में है व्याप्त वही स्वर रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है—काल कूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन ज्योति लुप्त है—अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में--इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ॥
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्माण्ड नाश के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध-तान--निकली है मेरे अन्तर तर से॥
दिल को मसल मसल मेंहदी—रचवा आया हूँ यह देखो—
एक एक अंगुलि-परिचालन में नाशक-तांडव को पेखो।
विश्वमूर्ति ! हट जाओ,—यह वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।
आज देख आया हूँ—जीवन के सब राज़ समझ आया हूं,
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक सूत्र परख आया हूं।
जीवन गीत भुलादो—कण्ठ मिलादो--मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान--निकली है मेरे अन्तर तर से !!

मन-मीन

मछली, मछली, कितना पानी ? ज़रा बतादो आज;
देखूं कितने गहरे में है मेरा जीर्ण जहाज़।
मन की मछली डुबकी खाकर कहदो कितना जल है
कितने नीचे, कितने गहरे, कहाँ थाह का थल है ?

पंकिल थल, सुनील जल, हिल-मिल, हुए कहाँ है एक ?
मछली, मछली मुझे बता दो, कहाँ थाह की रेख ?

कई बार तल से टकराया, फिर भी पता न पाया;
ज्यों ही पैठा, त्यों ही उफनाकर फिर से उतराया।
जल-निधि के उलीचने को टपकाए बिन्दु अनेक;
किन्तु टिटिहरी का धीरज छूटा, अथाह जल देख।
अब तुम से कहता हूँ, मुझको ज़रा बता दो मीन।
कितने नीचे तल की भूमि सिमिटती है संकीर्ण॥

तरल तरंगें बढ़ आती हैं, होता हूं हैरान;
ये उठती लहरें सिंचित करती तट का मैदान
यहाँ, वहाँ, सर्वत्र आप ही आप जलधि का क्षार;
कीर्णित हो जाता है मम जीवनतट पर प्रतिवार।
कैसे यह जल का प्लावक विप्लव होवेगा शान्त ?
मन की मछली, कहो हृदय कैसे होगा विश्रान्त ?

तुम्हें डूबने ही में क्या सुख मिलता है जल बीच ?
आने में संकोच किया करती हो क्यों थल बीच ?
मेरा जल थल एक हो रहा है, न करो कुछ सोच,
प्राण नाश का अर्थ हो गया है जीवन का लोच।
इधर उधर मुड़ जाने ही से जीवन-गाँठ बँधी है।
मछली, मछली, इसी लिए अभिलाषा आज सधी है॥

यदि थल में आ जाओगी तो प्राण नहीं तड़पेंगे।
द्रवित तटों के पंकिल रजकण में दुखिया अटकेंगे।
यदि तड़पे ये बंदी तो भी चरणों में जायेंगे।
वहीं रहेंगे मंडराते ये वहीं शान्ति पायेंगे।

जी के कठिन प्रश्न का उत्तर योंही मिल जायेगा।
मन की मछली निठुर प्रेम यों सौदा निपटावेगा ॥
जिस के एक एक पद-संचालन से कँपते प्राण।
जिस के नेह-पगे अवलोकन से ढुरता है त्राण।
प्राण प्राण के मिस होता है जहाँ नेह का दान।
नेह-यान के मिस जो करती है मुझको म्रियमाण।
उसका कुछ परिचय देदो, वह निष्ठुर प्रतिभा कौन !
मन की मछली, क्यों साधे बैठी हो तुम यह मौन ?
गहराई के अन्तस्तल में कौन छिपी बैठी है ?
मछली, मछली, ज़रा बता दो कौन हूक पैठी है ?

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि-वध के सुन्दर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नीव,
बड़े बड़े ये शिलाखण्ड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत;
ऊपर, अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास !
नीचे, उपत्यका में, है जीवन-पंकिल का त्रास।
चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुञ्ज,
देख कहीं न लुभावे तुझको यह जीवन की कुञ्ज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर कर दे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बन्ध,
करदे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।

अग्नि-कायर-संवाद

अग्नि शिखा ने धधक कहा—"मैं प्यासी हूँ"
कायर बोला—"मैं तो एक उदासी हूँ"
"मुझे क्या ग़रज़ तू प्यासी है या भूखी ?
बता, कहाँ से लाऊँ मैं समिधा सूखी ?"

हवन कुण्ड की आग उगलने लगी वचनः—
अरे भस्म करदे तू अपना जीवन—धन
मेरी प्यास बुझे अब मत कर देरी,
तेरे द्वारे आज लगाती हूं मैं फेरी।

"मुझको मत निराश कर तू आलसी अरे,
वरना मँडराऊँगी मैं बहु रूप धरे"
कभी बनूँगी मैं परतन्त्र भाव पीड़ा,
कभी खेत खाऊँगी बन अकाल-क्रीड़ा।

"अरे कापुरुष दे दे तू मुझको पानी
बुझने दे मम प्यास, निपट से अज्ञानी,
वरना मैं हूँ आग तुझे खा डालूँगी।
बन कर हिय की हूक हृदय में सालूँगी"

सुन करके ये वचन भीरु हिय मुरझ गया
पर वीरों के हिय का बन्धन सुरझ गया
उरझ गया बलिदानोत्कण्ठा का फन्दा
मर मिटने के भाव हुए फिर से जिन्दा

———

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'

आपका जन्म संवत् १९५९ में ऊपरडीह (गया) में हुआ था। आप केवल कवि ही नहीं किन्तु कुशल चित्रकार भी हैं। जहाँ इन दोनों कलाओं का संसर्ग हो वहां दोनों को पुष्टि मिलती है। सौभाग्य से वियोगीजी को दोनों प्राप्त हैं। आपके निर्माल्य, और एकतारा ये दो काव्यग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनका अच्छा मान हुआ है। आप होनहार कवि हैं। आपसे हिन्दी साहित्य को विशेष आशा है। स्वभाव के गंभीर और मिष्टभाषी हैं।

जलकण की चिन्ता

मैं तेरी महानता, अपनी देख तुच्छता, हे गुणवान !
'कैसे तुझ में मिल जाऊँगा ? यही सोच कर हूं हैरान।
कहते हैं सब--'मैं हूँ तेरा सूक्ष्म रूप,' क्या यह है ठीक ?
किम्वदंतियों में रहता है प्रायः निहित विशेष अलीक।

आदि अन्त से हीन विश्व में तेरा है अस्तित्व अपार,
तू अगम्य है, तेरी गोदी में रज-कण सा है संसार।
इधर घिरा हूँ मैं निश्चित सीमा में हो परतन्त्र, मलीन,
तिस पर मेरी वर्तमान आकृति है, अस्थायी, जड़, हीन ।।

मेरे लिए पतन रहता है मानों मुँह खोले तैय्यार,
अस्थिर पवन शून्य में है मेरा, हा ! एकमात्र आधार।
नहीं किसी पहलू में मिलता है तुझ से मेरा व्यवहार,
फिर मैं क्यों अपने को मानूँ तेरा परिवर्तित आकार ।।

"हे जल कण ! वह समय कभी अज्ञात रूप में आवेगा,
तुझे साथ ले कर उदार सागर में झट मिल जावेगा।
फिर तुम अपने को अनन्त में
सखे व्याप्त तब पाओगे,
चरम-लक्ष्य पर पहुँच हर्ष से
महागान नित गाओगे ।।"

———

विराट आह्वान

नाथ ! रहा हूँ तुम्हें पुकार,
इस कोलाहल पूर्ण देश में,
क्षीण कण्ठ से दीन वेश में,
सिर पर ले असह्य गुरु भार,
नाथ ! रहा हूं तुम्हें पुकार ॥
सुख दुख, हँसी और रोदन में,
जागृत, जीवन, स्वप्न मरण में,
सभी दशा में कर चीत्कार,
नाथ ! रहा हूं तुम्हें पुकार ॥
अर्थ-हीन भाषा में खगदल,
अस्थिर पवन हो महा विह्वल,
आठों पहर घोर गर्जन कर,
अन्तहीन कल्लोलित सागर।
मूकभारती में गिरि, तरुवर,
तटिनी, निर्झर नित कर झर झर,
कर्मचक्र में बन्धे हुए नर,
महा उदार अटल नीलाम्बर।
रवि, शशि युग युग घूम घूम कर,
घोर शून्य में मेघ नयन भर,
नाथ ! रहे हैं तुम्हें पुकार--
आओ हे जीवन दाता ! पोषण कर्ता !! अन्तक !! कर्तार !
निराधार जग के आधार ।!

इस पार से उस पार

अद्भुत है तेरा व्यवहार,
नाविक ! देखो, कल्लोलित सागर के तट पर,
खड़े हुए हैं भानु विदा के लिए नयन नीचे कर,
वे हैं जाने को तैय्यार।
किन्तु नहीं कुछ भी कहते हैं,
नीरव विरह-व्यथा सहते हैं।
इस अनन्त अज्ञात देश में फिर कर द्वार द्वार पर हाय !
मैं ने भिक्षा माँगी, किन्तु नहीं हो सकी अपेक्षित आय।
देख लो मेरी झोली भार।
थक कर आया तेरे पास,
बन्धु न करना मुझे हताश।
मुझ से पीछे जो आए थे वे तो क्रमशः चले गए,
और बहुत से लोग खड़े हैं तट पर आकर नए नए।
यहाँ है पथिकों की भरमार।
कहो, समय तुम कब आओगे ?
मुझे पार कब पहुंचाओगे !
भर भर कर इस दीर्घ तरी को तुम कितनी ही बार।
गए और क्षण भर में लौटे खाली कर इस पार॥
तुम्हीं हो एक मात्र आधार।
यहाँ दूसरी नाव नहीं है,
और घाट भी एक यही है।

मंथर-गति से रजनी आ कर पूर्व द्वार पर खड़ी हुई,
संध्या रवि की विरह-व्यथा में धूल धूसरित पड़ी हुई।
रही है वह सुख को धिक्कार।
हो चला उसका लीला अन्त,
स्नेह तुम निष्ठुर हो हा हन्त !
पंख पसार उड़े जाते हैं, पक्षी निज नीड़ों की ओर,
अंधकार में डूब रहे हैं भूमि गगन के दोनों छोर।
हुआ नीरवता का संचार।
दिवस की चिता जल चुकी हाय।
मैं हूँ यहाँ खड़ा निरुपाय।
नाविक ! ओ नाविक !! असह्य है देर खोलदे शीघ्र तरी,
कब जाऊँगा पार सदा रहती है तेरी नाव भरी ?
तुम्हारा है यह अत्याचार।
हाँ, फिर बोलो क्या कहते हो ?
मुझे देखकर क्यों हँसते हो ?
यद्यपि मैं हूं लिए पीठ पर जीवन का गुरु भार,
तरी डूबने का यदि भय हो कहो, यहीं दूँ डार।
मानूँगा तेरा आभार,
करूँगा तुम्हें हृदय से प्यार।
हाथ जोड़ता हूँ न सताओ
तुम हो बड़े उदार !
मुझे अब पहुँचादो उस पार।

आंसू

हे मेरी आँखों के आँसू ! हे इस जीवन के इतिहास !
छलक पड़ो मत, रहो अन्त तक, उमड़े इस दुखिया के पास।
हे करुणा के चिन्ह ! अहो अभिलाषा की नीरव भाषा।
मत छलको है टँगी हुई तुम पर ही मेरी शुभ आशा।
हृदय-वेदना के परिचायक ! निराधार के हे आधार !
अन्तस्तल को धोनेवाले ! हे मेरे सुमुक्त उद्‌गार।
हे मेरी असंख्य भूलों के—मूर्तिमान सच्चे अनुताप !
शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप।
हे कितनी घटनाओं की स्मृति ! हे मेरी आँखोंकी लाज !
क्या जानें क्या, तुम्हें छलकता, देख कहेगा क्षुब्ध-समाज
कितने स्नेह, शोक के हो उपहार-तुल्य तुम मेरे पास।
बात बात में यों मत छलको, उठ जावेगा फिर विश्वास॥
बल न उठे जिससे सहसा वह—बना रहे सुखदायक शान्त
रक्खा है प्रज्वलित प्रेम को, तुममें डुबा अहो उद्‌भ्रान्त
बार बार इस नीरस जग को, अपना रूप न दिखलाओ।
उषाकाल के तारागण से, इन नयनों में छिप जाओ।
हे मेरे इस जीवन भरकी, कठिन कमाई ! छिपे रहो।
आवश्यकता नहीं तुम्हारी आई भाई ! छिपे रहो।
नहीं सफाई देने की बारी आई है छिपे रहो।
नहीं झलक अब तक प्रियतम ने दिखलाई है छिपे रहो॥
योंही ढलक पड़ोगे तो मिट्टी में मिल जाओगे यार !
'लोचन जल रहु लोचन कोना,' यही विनय है बारम्बार॥

सुभद्रा कुमारी चौहान

इनका जन्म श्रावण शुक्ला ५ सं० १९६१ को प्रयाग में हुआ। इनके पिता का नाम ठाकुर रामनाथ सिंह था । प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की। खंडवा के ठाकुर लक्ष्मण सिंह चौहान बी. ए एल० एल० बी० के साथ सं०१९७६ में इनका विवाह हुआ विवाह के बाद भी अध्ययन जारी रहा. परन्तु कलकत्ता कांग्रेस में असहयोग का प्रस्ताव पास होने पर इन्होंने स्कूल छोड़ दिया। इनका स्थान हिन्दी की वर्तमान स्त्री-कवियों में सब से ऊंचा है। इन की भाषा परिमार्जित होती है और भाव खूब ऊंचे।

समर्पण

सूखी सी अधखिली कली है,
परिमल नहीं पराग नहीं।
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन का
है इन पर दाग नहीं॥

तेरी अतुल कृपा का बदला,
नहीं चुकाने आई हूँ।
केवल पूजा में ये कलियाँ
भक्ति भाव से लाई हूँ॥

प्रणय जल्पना चिन्त्य कल्पना,
मधुर वासनाएँ प्यारी।
मृदु अभिलाषा, विजयी आशा
सजा रहीं थीं फुलवारी॥

किन्तु गर्व का झोंका आया,
यदपि गर्व वह था तेरा।
उजड़ गई फुलवारी सारी,
बिगड़ गया सब कुछ मेरा।

बची हुई स्मृति की ये कलियाँ
मैं बटोर कर लाई हूँ।
तुझे सुझाने, तुझे रिझाने
तुझे मनाने आई हूँ॥

प्रेम भाव से हो अथवा हो
दयाभाव से ही स्वीकार।
ठुकराना मत इसे जान कर
मेरा छोटा सा उपहार॥

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली,
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली।
दीपशिखा है अंधेरे की, घनी घटा की उजियाली,
ऊषा है यह कमल भृङ्ग की, है पतझड़ की हरियाली।
सुधा-धार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की,
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की,सच्ची लगन मनस्वी की।
बीते हुए बालपन की यह, क्रीड़ा-पूर्ण वाटिका है,
वही मचलना वही किलकना, हँसती हुई नाटिका है।
मेरा मन्दिर मेरी मस्जिद, करवट काशी यह मेरी,
पूजा पाठ ध्यान जप तप है, घट घट वासी यह मेरी।
कृष्ण-चन्द की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो,
कौशल्या के मातृ-मोद को, अपने ही मन में देखो।
प्रभु ईसा की क्षमा शीलता, नबी मुहम्मद का विश्वास,
जीव दया जिनवर गौतम की आओ देखो इसके पास।
परिचय पूछ रहे हो मुझ से, कैसे परिचय दूँ,इस का
वही जान सकता है इसको,माता का दिल है जिसका।

फुटकर

दीपावली

कहो मैं कैसे दीप जलाऊँ ?
कैसे करूँ कुटी आलोकित, दीपावली मनाऊँ ?
आज विश्व के घर में देखो कितना है आलोक !
और हमारे घर का दीपक बुझा हुआ, हा शोक !
हृदय को किस प्रकार समझाऊँ ॥ १ ॥
इस भैरवी अमा रजनी में जाऊँ किस के द्वार ?
दिन भर का विश्रान्त विचारा सोया है संसार ॥
सुप्त को कैसे छेड़ जगाऊँ ? ॥ २ ॥
आज शशिकला ने भी अपना खींच लिया है हाथ ।
नहीं दीखता कोई दाता माँगूँ किस से नाथ ?
भला मैं प्रभा कहाँ से लाऊँ ? ॥३ ॥
भींगी मेरी दीप-शलाका आँसू में भरपूर ।
उपादान कारण आभा का स्नेह-दीप से दूर ॥
सर्व साधन किस भाँति जुटाऊँ ? ।
कहो मैं कैसे दीप जलाऊँ ? ॥ ४ ॥

शिवदास गुप्त "कुसुम"

माया

नटवर ! है अनुपम तव माया ।
सकल चराचर एक सूत्र में तूने बाँध नचाया ॥ ध्रुव ॥
रस ऋतु सरस, सूर्य, शशि, तारे, भू, गिरि, विपिन बनाया
नीले-नीले रुचिर गगन में, कैसा रास रचाया ! १ ॥
कुसुमित वलित ललित लतिकाएँ, सुफल कलित द्रुम छाया ॥
रङ्ग-रङ्ग के देख विहङ्गम, अङ्ग-अङ्ग हरषाया ॥ २ ॥
जलचर, थलचर, नभचर नाना, कितने रूप दिखाया !
तेरी माया तू ही जाने, मुनि-जन-मन अकुलाया ॥ ३ ॥
विस्तृत विश्व-नाट्यशाला है, तू नटखट नटराया ।
काल-जवनिका पट है तेरा, घट-घट बीच समाया ॥ ४ ॥
मैं तेरा हूँ तू मेरा है फिर भी रहा पराया ।
"श्रीहरि" तुझ में मिल जाने को, चित चञ्चल ललचाया ॥५॥

"श्रीहरि"

कुटीर का पुष्प

भाग्यवान हूँ, इस ही में यह विजन कुटीर करूँ सुरभित ।
नहीं तनिक इच्छा मुझ को मधुकर-मंडित आरामों की ।
दुर्बल अङ्ग, स्वल्प सौरभ, मम काम-स्थल यह कोना है ।
इसे सजाऊँ इसे रिझाऊँ, केवल यही कामना है ।
यही लालसा हिय में, इसका इक दिन विध गलहार बनूँ ।
अपना सब सौरभ समाप्त कर रज-कन में बस वास करूँ ॥

पुरुषोत्तमदास टंडन

जागु पिया

जागु पिया, सुख-निसा सिरानी तारा अस्त भये।
धरु धीरज, करु कठिन हृदय, सहने हैं दुःख नये।।
जानौ मोहिं अति दूर, मरुन पर, अरु पर्वत घाटिन में।
जेहि सुमिरत मन थकत चलत नहिं,नद,वर्फान् अरु बन में।।
अरु अचरज भय मय समुद्र की घोर बहत लहरन में।
तापर ठाँव पहुँचि दारुन रन करनौ है रिपुगन में।।
रक्त माँस कौ कीच बनत जहँ छिन मैं नर देहन तें।
अरु तिन में तिल-मात्र भूमि नहिं हटनौ है मन तन तें।।
होत बहुत दुख सरल प्रजा को नित निज जिन दुष्टन तें।
जागु पिया अरु देखु मोहिं भरि बीर धर्म नयनन में।।
इष्टदेव तें जय मनाउ मोहिं, दुःख ल्याउ नहिं मन में।
जीति, लौटि, अँकवार भेंटि तोहिं हँसौं फेरि उपवन में।।
तजौं देह जौ सदा होय तौ संग जनम जनमन में।
तिन के चित परमात्म भाव नहिं शोक मोह उन जन में।।
जागु पिया, तम निसा-सिरानी दिन-मनि उदय भये।
धरु धीरज करु शान्त हृदय करने हैं काज नये।।

भगवानदास

प्रभाती

जागो भाई जागो रात रही थोरी।
काल चोर नहिं करन चहत है जीवन-धन की चोरी।
औसर चूके पुनि पछितैहौ हाथ मींजि सिर फोरी।।

काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी ।
जो कछु बीती वीत चुकी सो चिन्ता ते मुख मोरी।
आगे जामे वनै सो कीजै करि तन-मन इकठोरी ।।
कोऊ काहू को नहिं साथी मात, पिता, सुत, गोरी ।
अपने करम आपने संगी और भावना भोरी ।
सत्य सहायक स्वामि सुखद से लेहु प्रीति जिय-जोरी ।
नाहि तु फिर 'परताप हरी' कोऊ बात न पूछहि तोरी ।।

प्रतापनारायण मिश्र

लक्ष्मी-पूजा

जयति-जयति लच्छमी, जयति माँ जग-उजियारी ।
सर्वोपरि सर्वोपम सब्बहु तें अति प्यारी ।।
व्यापि रह्यो चहुँ ओर तेज जननी इक तेरो।
तव आनन की जोति होत यह विस्व उजेरो ।।
जहँ चन्द्रमुखी मुखचन्द्र की, किरनन उजियारो करैं।
जहँ तम न कटै युग कोटि लौं, कोटि भानु पचि-पचि मरैं ।।
विन तेरे सब जगत जननि मृतवत् अरु निसफल ।
देवन बात कही यह साँची छाँड़ि छोभ छल ।।
तोहि छाँड़ि माँ ! देवन केतोही दुख पायो ।
सुरपति चन्द्र कुबेरहु तैं नहिं मिट्यो मिटायो ।।
जब सूखे तालू, ओठ, मुख; चरन गहे तव आय के ।
तब दूर भयो दुख सुरन को, रहे नैन झरलाय के ।।

जा घर नहिं तव वास मात सोही घर सूनो ।
द्वार द्वार बिडरात फिरैं तुव कृपा बिहूनो ।।
औरन की को कहै, स्वजन जब धक्का मारैं ।
अपने घर के ही घर सों कर पकरि निकारैं ।।
नहिं भ्रात, मात अरु बन्धु कोउ निरधन को आदर करै ।
निज नारिहु माँ तुव कृपा बिन आनन मोरि निरादरै ।।
कोटि वुद्धि किन होहिं बिना तुव काम न आवैं ।
कोटिन चतुराई तव बिन धूरहि मिलि जावैं ।।
तहँ कहँ बुद्धि थिराय मात जहँ बास न तेरो ।
जहाँ न दीपक बरै रहै केहि भाँति उजेरो ।।
वहु वुद्धिमान तव कृपा विन, वुद्धि खोय मारे फिरै ।
केते मूरख तव लाड़िले, दूरि-दूरि तिनको करैं ।।
जप-तप, तीरथ, होम, यज्ञ तुव विन कुछ नाहीं
स्वारथ परमारथ सवरो तेरे ही माहीं ।।
चलै न घर को काज न पितृन अरु देवन को ।
जनम लेत तव कृपा विना नर-दुख सेवन को ।।
जय जयति अखिल ब्रह्मांड के जीवन की आधार जो ।
जय जयति लक्ष्मी, जगत की एकमात्र सुख-सार जो ।।
भलो कियो री मात आप कीन्हों पुनि फेरो ।
तुम्हरे आये हमरे घर को मिटयो अँधेरो ।।
तुम्हरे कारज आज मात दीपावलि वारी ।
घर लीप्यो, टूटी-फूटी सब वस्तु सँवारी ।।
तुम्हरे आये तुव सुतन को, आज अनन्द अपार है ।
सब फूले-फूले फिरत हैं, तनकी नाहिं सम्हार है ।।

मात आपने कङ्गालन की दसा निहारो।
जिनके आँसुन भीज रह्यो तव आँचल सारो॥
कोटिन पै रही उड़त पताका माँ जिनके घर।
सो कौड़ी-कौड़ी को हाथ पसारत दर-दर!

हा! तो सी जननी पायकै, कङ्गाल नाम हमरो परयो।
धिक-धिक जीवन माँ लच्छमी,अब हम चाहत हैं मरयो!!

गज रथ तुरग विहीन भये ताको डर नाहीं।
चँवर छत्र को चाव नाहिं हमरे उर माहीं॥
सिंहासन अरु राजपाट को नाहिं उरहनो।
ना हम चाहत अस्त्र-वस्त्र सुन्दर पट गहनो॥

पै हाथ जोरि हम आज यह, रोय-रोय विनती करैं!
या भूखे पापी पेट कहँ, मात कहो कैसे भरैं?

बालमुकुन्द गुप्त

भरत-वाक्य

१

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै,
विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी, प्रार्थना कान कीजै,
कीजै कीजै देश कल्याण कीजै॥

२

सुमति सुखद दीजै फूट को लोग त्यागैं,
कुमति हरन कीजै द्वेष के भाव भागैं।
तजि कुसमय निद्रा चित्त सों चित्त जागैं,
विषम कुपथ त्यागैं नीति के पंथ लागैं॥

३

तंद्रा त्यागैं लहि कुशलता होहिं व्यापार-नेमी,
सीखैं नीकी नव नव कला होहिं उद्योग-प्रेमी।
पूरे रूरे नियम विधि सों स्वस्थता के निबाहैं,
उत्कंठा सों दिवस निसिहूं देश की वृद्धि चाहैं॥

४

पावैं पूरी प्रतिष्ठा कविवर जग के शुद्ध साहित्य-ज्ञानी,
होवैं आसीन ऊँचे सुजन विदित जे देशसेवाभिमानी।
पीड़ा दुर्भिक्षवारी जुग-जुग कबहूँ प्रान्त कोऊ न पावैं,
दीर्घायू लोग होवैं तिन ढिग कबहूँ रोग कोऊ न आवै॥

५

सत्संग सन्त-सुर-पूजन धेनु-प्रेम,
श्रीराम-कृष्ण-चरितामृत-पान-नेम
सौजन्य भाव गुरु सेवन आदि प्यारे,
सम्पूर्ण शील शुभ पावहिं देशवारे॥

६

अन्याय को अंक कहूं रहै ना,
दुर्नीति की शंक कहूँ रहै ना।
होवै सदा मोद विनोदकारी,
राजा प्रजा में अनुराग भारी॥

७

समस्त वर्णाश्रम धर्म मानैं,
सदा हि कर्त्तव्य प्रधान जानैं।
जसी तपस्वी बुध वीर होवैं,
बली प्रतापी रणधीर होवैं॥

८

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै,
विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी, प्रार्थना कान कीजै,
कीजै कीजै देश कल्यान कीजै॥

—देवीप्रसाद 'पूर्ण'

युवा सन्यासी

गुण-निधान मतिमान सुखी सब भाँति एक लवपुर-वासी।
युवा-अवस्था बीच विप्रकुल-केतु हुआ है संन्यासी॥
वृद्ध पिता-माता की आशा बिन ब्याही कन्या का भार।
शिक्षाहीन सुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार॥
सन्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम।
त्याग, एक अनुराग किया उसने विराग में तज सब नेम॥
"प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता"—यों कहती प्यारी छोड़ी।
"हाय! वत्स! वृद्धा के धन!!" यों रोती महतारी छोड़ी॥
चिर सहचरी "रियाज़ी" छोड़ी रम्यतटी रावी छोड़ी।
शिखा-सूत्र के साथ हाय! उन बोली पञ्जाबी छोड़ी॥
धन्य पञ्चनद भूमि जहाँ इस बड़भागी ने जन्म लिया।
धन्य जनक-जननी जिनके घर इस त्यागी ने जन्म लिया॥
धन्य सती, जिसका पति मरने से पहले हो जाय अमर।
धन्य धन्य संतान, पिता जिनका जगदीश्वर पर निर्भर॥
शोक ग्रस्त हो गई लवपुरी उस की हुई विदाई जब।
द्रवीभूत कैसे न होय मन? सन्यासी हो भाई जब॥

माधवप्रसाद मिश्र

प्रताप-विसर्जन

उन्नत सिर गिरिअवलि गगन सों उत बतरावत ।
इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत ॥
मन्द पवन सीरी बहै होन लगे पतझार ।
पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानो कोउ अवतार ।
हरन भुवभार को ॥

मुखमंडल अति शान्त कान्तिमय चितवन सोहै ।
भरे अनेकन भाव व्यग्र चारिहुँ दिसि जोहै ॥
वीरमण्डली घेरि क प्रभु की गति रहे जोहि ।
मनु भीषम सर-सयन परे कौरव पाण्डव रहे सोहि ॥
हृदय उमड़्यो परै ॥

लखि निज प्रभु की अंत समय की वेदन भारी ।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी ॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उदवेग महान ।
हाथ जोरि विनती कियो अति हरुए लगि प्रभु कान ॥
बैन आरत सने ॥

अहो नाथ, अहो वीर-सिरोमनि-भारत-स्वामी ।
हिन्दू-कीरति थापन में समर्थ सुभ नामी !!
कहाँ वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहँ ध्यान ?
देखि कष्ट हिय फटत है, केहि सङ्कट में हैं प्रान ॥
कृपा करिकै कहो ॥

सुनत दुख भरे बैन नैन तिनके दिशि फेर्‌यो ।
भरि कै दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेर्‌यो ॥
पुनि लखि सुत तन फेरि मुख अति संतप्त अधीर ।
धरि धीरज अति छीन सुर बोले वचन गँभीर ॥
परम आतङ्क सों ॥

हे हे वीर सिरोमनि सब सरदार हमारे।
हे विपत्ति-सहचर प्रताप के प्रान पियारे॥
तुव भुज-बल लहि मैं भयो रच्छा करन समर्थ।
मातृभूमि-स्वाधीनता को प्रबल सत्रु करि व्यर्थ॥
अनेकन कष्ट सहि॥
या प्रताप नै उचित कहौ कै अनुचित भाखौ।
वा स्वतन्त्रता हेतु जगत सुख तृन सम नाखौ॥
ढाइ महल खँडहर किए सुख सामान बिहाय।
छानि बनन की धूरि को गिरि गिरि में टकराय॥
क्लेश को लेश नहि॥
पै जब आवत ध्यान लह्यो जो सहि दुख इतने।
सो अमूल्य निधि मम पाछे रहि है दिन कितने॥
तुच्छ वासना में पग्यो दुःख सहन असमर्थ।
चञ्चल अमरहिं देख कै होत आस सब व्यर्थ॥
सोच भावी दसा॥
कहि दुखमय ये वचन अमर तन दुख सों देख्यो।
मूँदि नैन जल भरे स्वास लै सब दिशि पेख्यो॥
सन्नाटा चहुं दिशि छयो सब के मुख गम्भीर।
पृथ्वी दिशि हेरैं सबै भरे महा हिय पीर॥
बैन नहिं कछु कढ़ै॥
करि साहस पुनि राव सलूमर सीस नवायो।
अभिवादन करि अति विनीत ये वचन सुनायो॥
पृथ्वीनाथ यह सोच क्यों उपज्यो प्रभु हिय आज।
कुंवर बहादुर तें परि कौन चूक केहि काज॥
निरासा जो भई॥

चदलि पास कछु सँभरि वैन परताप कह्यो पुनि।
अति गंभोर सतेज मनहुं गुंजत केहरि धुनि॥
"सुनौ वीर मेवार के गौरव राखनहार।
मेरे हिय की वेदना जो कियो आस सब छार॥
अमर के कर्म ने॥

एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठयो।
इतने हि में मृग एक आनि के वहाँ जु पैठयो॥
हरवराइ सन्धानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या वाँस मैं फंस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहुं न रुक्यो॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय में धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पाग लखि झोपड़िहिं अतिहिं क्रोध के साथ॥
वैन मुख ते कढ़े॥

रहु रहु रे निर्बोध अमर-गति रोकनहारे।
हम न लेहिंगे साँस बिना तोहिं आज उजारे।
राजभवन निर्मान करि तेरो चिन्ह मिटाइ।
जो दुख पाये तोहि मैं सो दैहौं सबै भुलाइ॥
सुखद आवास रचि॥

तबहीं ते ये वैन शूल सम खटकत मम हिय।
यह परि सुख-वासना अवसि दुख दिवस बिसारिय॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम।
बेचि सिसोदिय कीर्त्ति को यह करिहै अवसि निकाम॥
रुके हम सोचि एहि"॥

हिन्दूपति के बैन सुनत छत्री कोपे सब।
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौरयो तब॥
लै लै असि दृढ़पन कियो छ्वै छ्वै प्रभु के पाय।
"जौ लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय॥
सङ्क करिये न कछु" ॥
दृढ़ प्रतिज्ञ छत्रिनपन सुनि राना मुख बिकस्यो।
आश-लता लहलही भई मुखते यह निकस्यो॥
"धन्य वीर तुम जोग ही यह पन तुमहिं सुहाइ।
अब हम सुख सों मरत हैं, हरि तुम्हरे सदा सहाई॥
यही आसीस मम" ॥
देखत देखत शान्ति-सदन परताप सिधाये।
पराधीनता मेघ बहुरि भारत सिर छाये॥
सबही सुख परताप सँग विसर्जन हाय।
दीन हीन भारत रह्यो सुख संपदा गँवाय॥
ताहि प्रभु रच्छिए॥

राधाकृष्णदास

श्मशान

सैकत-शय्या एक तुम्हारे पास है,
दिव्य देव-सरि पात्र एक जलपान का।
अर्धमास तक अन्धेरे में वास है,
इन्दु-करों से दीपक पाते दान का।
एक मात्र आहार तुम्हारा वायु है,
अम्बर है प्राचीन एक आकाश ही!

सुनता हूँ मैं अन्त-हीन तव आयु है,
मृत्यु प्रिया विख्यात पुत्र है नाश ही !
ऐसे निर्धन तुम्हीं एक संसार में—
धन-कुबेर भी जाते जिसके द्वार पर !
तुम हो सब से बढ़े विश्व के प्यार में,
जग-विश्राम-स्थान तुम्हारा गेह वर !
मित्र तुम्हारे कुक्कुट गृद्ध श्रृगाल हैं,
परम शान्त बीभत्स तुम्हारा रूप है।
आभूषणवत् अस्थि और नृकपाल हैं,
भूतल पर तव वेश श्मशान अनूप है।
शत्रु तुम्हारे जीवित प्राणी हैं सभी,
मृतक-मित्र तुमसा न और है दूसरा।
तुम तब तक सहयोग न करते हो कभी,
मानव को न जब तक जान लेते मरा !
पथ का भिक्षुक रहे या कि सम्राट हो,
शक्ति-हीन या भीमसेन सा हो बली।
चाहे कोई अपने घर का लाट हो,
अङ्क तुम्हारा सबकी विश्राम-स्थली।
तन से लेकर पंचतत्व तुम हो बाँटते,
क्षिति,पावक,जल,भूमि और आकाश को।
मन से सबके मोह-रज्जु हो काटते,
दिखला कर स्वर्गीय पवित्र प्रकाश को।
पर, श्मशान हो क्रूर बड़े हम जानते,
कर्म तुम्हारे दुःखद होते हैं महा !

जिसको हम जीवन-धन अपना मानते,
नाश देखकर उसका कहते हो 'अहा !'
पुष्पों की, कोमल, वस्त्रों की, हृदय की;
सेज साजते थे हम जिस प्रिय के लिए।
इति कर दी तुमने भी निश्चय अनय की—
काष्ट-चिता-शैया देकर उसके लिए।
रो रोकर हम वह्नि बुझाना चाहते—
'हो' हो' कर तुम उत्साहित करते उसे!
ऐसे कोमल तन को कैसे दाहते?
लज्जित होते वनज देख करके जिसे!
ले कितनों के लाल मिलाते धूल में,
कितनों का सर्वस्व अग्नि में डालते।
शूल हूल देते हो प्रायः फूल में,
तव करनी पर कितने आँसू ढालते॥
जो हो, है गुण एक तुम्हारा श्रेष्ठतर,
साम्यवाद के तुम सच्चे आचार्य हो,
एक दृष्टि रखते संसारी जीव पर,
भिक्षुक हो, नृप हो, अनार्य हो, आर्य हो।

बेचन शर्मा 'उग्र'

विश्व-संगीत

विकसे वारिज, खिले बगीचे, सुरभि मही में मंड़राई;
शीतल सुखद वायु धीरे से सन-सन सी करती आई।

बना सुवाद्य पक्षि-कलरव का, मोरों ने नव नृत्य किया।
श्यामा-शुक-सारिक समूह ने विश्व गान में योग दिया।

ओस-कणों से हरित तृणों पर, मुक्त माल सी बिखर गई।
सृष्टि हँसी शोभा पर अपनी दिखलाई रद-पंक्ति नई।

इस प्रभात की मुक्तावलि में निशि-तारावलि भूल गई।
सरित सरोवर में रवि-आभा सुन्दर सी लख पड़ी नई।

थी खेलती आग पानी पर चिनगारियाँ चमकती थी।
रश्मि अंशुमाली की जल में पैठ-पैठ रह जाती थीं।

छिटक रही थी किरण-माल,जो ओस-भरी निसि बीती थी।
सद्यस्नात सुभग तरु-पल्लव की पत्रावलि पीती थी।

पा गुदगुदी पवन के कर की वन का वन हँस देता था।
बीच-बीच परिहास हास का दृश्य हृदय हर लेता था।

मंद मलय था,मधुर महक थी,कलियों की चटकाहट थी।
थी मुसकान मधुर फिर कोमल ठट्ठे की सी आहट थी।

स्वयं सामने आकर नाचा,गाया हँसा खेला कोई।
धीरे से इस सृष्टि चक्र को फिर से चला गया कोई।

किसने लखी,सुनी थी किसने,कौन पारखी ने परखी।
उस स्वामी की क्षणिक हँसी,यह किसके नयनों ने निरखी।

आया वह प्रत्यक्ष सवेरे,मैं अँगड़ाई लेता था।
अर्द्ध सुप्त था देव उसी क्षण दुर्लभ दर्शन देता था।

पिला गया रस,जिला गया जग,भूमि स्वर्णसम खिला गया!
मैं सोता रह गया, नाथ, वह विशद विश्व में विला गया!

भगवानदीन पाठक

भिक्षुक का दान

यह कैसी विचित्र लीला है, यह कैसा व्यवहार !
तुम्हें लोक मर्यादा का है कुछ भी नहीं विचार !
मुझे जान पड़ता है तुम तो करते हो उपहास ।
प्रभो, तुम्हारा ढङ्ग देखकर विस्मित है संसार ।
मुझसे भी तुम आज माँगते हो भिक्षा का दान !
क्या मैं तुम्हें नाथ, दे सकता कुछ भी किसी प्रकार ?
तुमसे लेकर मैं करता हूँ जीवन का निर्वाह,
तुम पर ही तो सदा दरिद्रों का रहता है भार ।
मैंने जान लिया, ऐसी है सदा तुम्हारी रीति ।
भिक्षुक से भिक्षा लेकर तुम करते हो उपकार !
सत्य-कथा कहने से मेरे मत हो जाना रुष्ट ।
कह दो तुम क्या नहीं गये थे कभी द्वार से द्वार !
तुम्हें सुदामा के तण्डुल से हुआ नहीं क्या तोष ?
सबरी के बेरों पर तुमने किया नहीं अधिकार !
बलि से छलकर ग्रहण किया था किसने यह त्रैलोक्य ?
पुष्प-दान लेकर क्या गज का किया नहीं उद्धार !
कुछ भी हो, पर नहीं करूँगा तुमको आज निराश ।
हृदय-सिन्धु का रत्न तुम्हें मैं देता हूँ उपहार ।
मलिन जानकर यदि लेने में इसको हो संकोच,
तो सुधि कर लेना कैसा था भृगु का पाद-प्रहार !

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

————

सज्जनों का स्वभाव

दिनकर कमलों को स्वच्छ देता सुहास।
शशि कुमुद गणों को रम्य देता विकास॥
जलद बरसते हैं भूमि में अम्बु-धारा।
सुजन बिन कहे ही साधते कार्य सारा॥
विकल अति क्षुधा से देख के पुत्र प्यारा।
जननि-हृदय से है छूटती दुग्धधारा॥
लखकर कुदशा त्यों दीन दुःखी जनों की।
सहज प्रकट होती है दया सज्जनों की॥
लहर-रहित होता है पयोधि-प्रशान्त।
सहृदय रहते त्यों धीर गम्भीर शान्त॥
सुख, दुख भय चिन्ता आदि से हो अलिप्त—
स्थिर-मति रहते हैं साधु ही आत्म-तृप्त;
सब नद-नदियों का नीर धारा-प्रवाही—
बहकर मिलता है सिन्धु में सर्वदा ही॥
तदपि न तजता है आत्म-मर्याद सिन्धु।
सविपुल सुख में भी गर्व लाते न साधु॥
यदि सब सरिताएँ ग्रीष्म में शुष्क हों भी।
वह उदधि रहेगा पूर्ण ही मित्र, तो भी
धन सुख प्रभुता का सर्वथा हो अभाव।
पर सम रहता है सज्जनों का स्वभाव॥

लछमीधर वाजपेयी

प्रतिज्ञा

सत्य-सन्ध सुर-साधु-त्राता व्रतधर राघव असुरारे।
अच्युत अपने अचलव्रत से भर दो भक्त-हृदय सारे॥

भीष्म-भावना हरिश्चन्द्र की सत्य वीरता पाऊँ मैं।
पालन करके कृत-प्रतिज्ञा जन्म-भूमि यश गाऊँ मैं॥

विमल विचार विशद वचनों से भारत-गगन गुँजाऊँगा।
सत्कृत कर सर्वत्र देश की प्रतिमा पूज्य पुजाऊँगा॥

आत्मिक बल का वर्म पहन कर यथा-मनोरथ विचरूँगा।
सहृदयता का श्रोत बहाकर त्रस्ततृषा को हर दूँगा॥

बन्धुवर्ग मानव-समाज की सेवा सतत करूँगा मैं।
अनुपम आर्यादर्श देश के सम्मुख सदा धरूँगा मैं॥

जीवन सरल भद्र भावों से भूषित मुझको भावेगा।
पर-हित पर मरने में मेरा मन आनन्द मनावेगा॥

संयमशील बनूँगा, इन्द्रिय-लोलुपता न सतायेगी।
मेरे पार्थ-हृदय की गुरुता रुचि-उर्वशी न पायेगी॥

आडम्बरमय रुचिर सृष्टि में वीर विदेह बनूँगा मैं।
धँसकर उसके अन्तर तल में रत्न-निगूढ़ खनूँगा मैं॥

अन्तःकरण अमल रक्खूँगा निश्छल नीति प्रचारूँगा।
करके नित निष्काम कर्म मैं स्वार्थ-सर्प को मारूँगा॥

होगा देह-प्रेम देश-हित मुनि दधीच के तुल्य सदा।
बन प्रह्लाद दृढ़व्रत हूँगा सहकर अत्याचार गदा॥

दुराचरण दुर्व्यूह भेदने बनकर मैं सौभद्र बली।
नियम-निषङ्ग तीव्र छोड़ूँगा तोड़ूँगा दुष्कृत्य कली॥

महावीर मारुति के सम भय-भानु भयंकर निगलूँगा।
देख प्रहार पुरन्दर का भी पथ से कभी न विचलूँगा॥
पावस शीत निदाघ-ताप की मुझको परवा ज़रा नहीं।
दूँगा त्वरित सहारा, पाऊँ पतित पुरुष यदि पड़ा कहीं॥
भर कर अङ्क दीन-दुखियों को मैं सस्नेह उठाऊँगा।
पर-पाशों में पड़े हुओं के बन्धन विकट छुड़ाऊँगा॥
सोऊँगा न शान्ति-शय्या पर यदि स्वदेश हो सुखी नहीं।
कभी न देख सकूँगा अपने देशबन्धु को दुखी कहीं॥
शरणागत के अभयदान-हित कर्कश कष्ट उठाऊँगा।
अपने पूज्य पूर्वपुरुषों की शुभ सन्तान कहाऊँगा॥
भारत, तुझे त्याग कर क्या मैं स्वर्ग-भूमि में जाऊँगा?
तेरी समता क्या त्रिलोक में तीन लोक में पाऊँगा!
अमरो तुम अपने घर बैठो, मैं अपने घर काम करूँ।
जन्म धरूँ फिर फिर भारत में भारत के हित सदा मरूँ॥
वसुधे! यदि प्रण-भङ्ग-भाव का ध्यानमात्र भी उठे कभी।
मेरा मुँह न दिखाई दे फिर फट जाना कर दया तभी।
दिव्य दिशाओ! साक्षी हो तुम, पुण्य प्रतिज्ञा करता हूँ।
परमपिता! बल देना, तेरी ज्योति हृदय में भरता हूँ॥

गोकुलचन्द्र शर्मा

प्यारा हिन्दुस्तान

मेरु, द्रोण, हिमगिरि, विन्ध्याचल,
गंगा, जमुना, कच्छ, मरुस्थल,
सागर, सरिता, स्रोत, समंगल,

करते विरद बखान।
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान॥

बन, उपवन, फल, फूल, मनोहर,
ललित लता लिपटीं तरुवर पर,
सरसिज सहित समोद सरोवर,
करे सदा सुखदान।
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान॥

ऋषि, मुनि, वीर, व्रती, ब्रह्मचारी,
साधु, सती, सम्राट, सुखारी,
शिल्पी, सुकवि, गुणी, नर-नारी,
सब का जन्मस्थान।
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान॥

राम कृष्ण ने वीर बनाकर,
शेर शिवाजी ने अपनाकर,
प्रिय प्रताप ने प्राण गँवाकर,
जीवन किया प्रदान।
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान॥

बहे सदुन्नति की ध्रुवधारा,
चमके फिर सौभाग्य सितारा,
धर्म कर्म दोनों के द्वारा,
हो सुरलोक समान।
हमारा प्यारा हिन्दुस्तान॥

हरिशंकर शर्मा

परिग्रह

तव निवास है सीप! अतल जल में सागर के,
हैं प्रवाल के विपुल जाल भूषक जिस घर के।
पर है तेरा स्नेह दूर गगनस्थित घन से,
स्थिति से क्या, वह मिला हुआ है जो तव मन से।

उस के लिए निवास छोड़ देती तू अपना,
ऊपर आती भग्न-भाव, सुख को कर सपना।
अतल-निवासिनि! हृदय खोल जल पर तिरती है,
मारी मारी तरल तरङ्गों में फिरती है।

प्रेम-नीर की झड़ी लगा देता नव घन है,
छक जाता बस, एक बूँद से तेरा मन है।
इस सुख से हो मत्त किन्तु क्या तू गृह तजती,
नहीं, नहीं फिर लौट उसे मोती से सजती!

राय कृष्णदास

कलिका

नव कलिका तुम कब विकसी थीं इसका मुझ को ज्ञान नहीं।
हुई समर्पित श्री चरणों पर, कब इस का कुछ ध्यान नहीं॥
हृदय-संगिनी सरल मधुरता, में देखा अभिमान नहीं।
सच है गुण धन यौवन मद का दुनियाँ में सम्मान नहीं॥

इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से पूरित तुम को अपनाया।
नव कलिका जब तुम को देखा तभी पूर्ण विकसित पाया॥

नन्दन कानन में सुरभित होने की तुम को चाह नहीं।
हृदय वेध कर हृदयस्थल तक, जाने को उर-दाह नहीं॥
मन्त्र मुग्ध से जग-जन होवें इस की कुछ परवाह नहीं।
इन पवित्र मुसकानों में है, छिपी हुई वह आह नहीं॥
प्रेममयी ! इस अखिल विश्व को अचल प्रेम से अपनाना।
यदि मिल जावें युगल चरण यह, तुम उन पर वलि हा जाना॥

तोरनदेवी शुक्ल 'लली'

आश्वासन

(१)

वे उठते भी हैं अवश्य ही जो गिरते हैं।
दुर्दिन के ही बाद सुदिन सब के फिरते हैं॥
देखे दारुण दुःख वही नर फिर सुख पावे।
अवनति के उपरान्त घड़ी उन्नति की आवे॥
रवि रात बीतने पर प्रगट होते प्रातः समय में।
वस यही सोचकर आप भी धीरज रखिए हृदय में॥

(२)

होता प्रथम वसन्त ग्रीष्म ऋतु फिर आती है।
चले पसीना अंग आग सी लग जाती है॥
पत्ते फल या फूल विना जल जल जाते हैं।
पशु पक्षी भी घोर घाम से घबराते हैं॥
फिर शीघ्र देखते देखते हरी भरी होती मही।
आजाती वर्षाऋतु भली सुख देती तत्काल ही॥

(३)

कवियों का सर्वस्व, स्वर्ग की शोभा भारी !
शिव के भी सिर चढ़ा और आकाश विहारी ॥
अमृत सहोदर चन्द्र, कला जब घटने लगती ।
तब होता है क्षीण और श्री लटने लगती ॥
वह किंतु शीघ्र ही पूर्ण हो, होता है फिर अभ्युदय ।
है ठीक नियम यह प्रकृति का, परिवर्तन हो हर समय ॥

(४)

इतने बड़े अनंत तेज की राशि दिवाकर ।
तपते तीनों लोक बीच, पूजित हो घर घर ॥
किंतु समय पर राहु उन्हें ग्रस लेता जाकर ।
कुछ कर सकते नहीं हज़ारों यद्यपि हैं कर ॥
वह पहले होते अस्त या ग्रस्त समस्त प्रभारहित ।
फिर होते मुक्त प्रकाश से युक्त पूर्व में अभ्युदित ॥

(५)

जीव मरण के बाद जन्म पाता है देखो ।
कृष्ण पक्ष के बाद शुक्ल आता है देखो ॥
चलती है हेमंत हवा जब जोर दिखाती ।
तब होता पतझाड़, न पत्ती रहने पाती ॥
फिर वही वृक्ष होते हरे नवपल्लव शोभित सभी !
बस इसी तरह होंगे सुखी उन्नति-युत हम भी कभी ॥

रूपनारायण पाण्डेय

———

सपूत

चन्दन, चन्द, उशीर, हिमोपल, हिम-रजनी भी और कपूर।
सब मिल कर भी नहीं करेंगे, मानव-हृदय-ताप को दूर ॥
पर सपूत जिस कुल में होगा उसका समय आप ही आप।
पलट जायगा, यश फैलेगा, मिट जावेगा सब सन्ताप ॥१॥

विमल चित्त हो, दानशील हो, शूरवीर हो, सरल-विचार।
सत्य-वचन हो प्रेम युक्त हो, करे सभी से सम व्यवहार ॥
ज्ञानी, सहृदय, हो उपकारी और गुणी हो, अपना धर्म।
कभी न छोड़े, देशभक्त हो, ये सब सत्पुत्रों के कर्म ॥२॥

कपूत

आलस-रत, शोकातुर, लम्पट, कपटी और सदा वलहीन।
मानस-मलिन, सदा निद्रातुर, लोभी और अकारण दीन ॥
ऐसे सुत से क्या फल होगा ? हे चतुरानन दें वरदान।
कभी कपूत किसी को मत दे, चाहे करदे निस्सन्तान ॥१॥

पर से प्रेम, द्रोह अपने से, करते नित्य दुष्ट-गुण-गान।
गुरुजन की निन्दा कर हँसते, अपने को कहते गुणवान ॥
काला अक्षर भैंस बराबर, पर तो भी रखते अभिमान।
क्रोधानल में जलते रहते, यही कपूतों की पहचान ॥२॥

रामचरित उपाध्याय

अन्योक्ति

एरे मिलिंद मन ! तू किस रङ्ग में रँगा है ?
संसार-घोर वन में, दुख दैन्य के भवन में,
मकरंद-मोद ढूँढे, हा मोह ने ठगा है ॥
सुख शांति को खजन में, ज्यों फूल को गगन में,
पाने की हर समय तू उद्योग में लगा है ॥
ये मालती, चमेली, आपत्ति की सहेली,
सर्वस्व दे उन्हें तू नवनेह में पगा है ॥
जो कल कली खिली थीं, आमोद से मिली थीं।
वे अब नहीं दिखातीं, फिर भी न तू जगा है ॥
जिस फूल पर निछावर, करता है प्राण भी वर,
हा मूढ़ वह सदा ही देता तुझे दगा है ॥
वह वेदना सही हैं, जाती न जो कही हैं,
मिथ्या सुरस का लोभी अब भी न हा! भगा है ॥
कुञ्जन निकुञ्ज आवे, प्रभु-प्रेम-गीत गावे,
बाला हरी-चरन बिन कोई नहीं सगा है ॥

श्रीमती सत्यबाला देवी

प्रेम का भिखारी

(१)

जगज्जाल में फँस कर मैंने खोजा शांति-निकेत।
माया की अज्ञान निशा में, पाया ग्राम अचेत ॥

कपट है बलवानों के पास,
काम है श्रीमानों के पास,
क्रोध है धीमानों के पास,
अपनों में भी भरा हुआ है मतलब का व्योहार।
वटोही प्यासा बैठा द्वार।

(२)

साग्रह सभी लोग सिखलाते, मुझे जगत के नेम।
पर मैं सब के द्वार द्वार पर माँग रहा हूँ प्रेम॥
करेगा कोई मुझ से प्रीति,
छोड़नी होगी कुल की रीति,
भूलनी होगी श्रुति की नीति,
जाति तुरन्त गँवानी होगी तब प्रगटेगा प्यार।
वटोही बैठा प्यासा द्वार।

(३)

प्रेम-स्वाति के विना नहीं मैं पीता हूँ जल अन्य।
नीरव हो तुम घर में बैठो है यह काम जघन्य॥
द्वार पर पड़ा बटोही एक,
उसे है विमल प्रेम की टेक,
टेक वह, जिस पर मिटे अनेक
भिक्षा दो या करदो मेरे प्राणों का संहार।
वटोही बैठा प्यासा द्वार।

'नयन'

———

तुम

(१)

मत्त-मोर के नव नर्तन में, कोकिल के कल कूजन में,
उषा-काल के अलिगुञ्जन में, लतिका के नव यौवन में,
वाल युवतियों के चितवन में, शिशु के मृदु भोलेपन में,
तुम्हीं विश्व-भय-मोचन में हो, रिपुमर्दन भीषण रण में ॥

(२)

दिनकर की अन्तिम किरणों से, पुलकित निर्मल स्वर्ण-गगन,
हरियाली से लदे सघन गिरि, कुसुमित सुरभित वन उपवन,
तरल-तरंग-तरंगित सागर, परिमल-पूरित कलित कमल,
सभी एक स्वर से तव वैभव, कहते हैं नित, अनिल, अनल ॥

(३)

मृदु मयंक की शुभ्र ज्योत्स्ना, जल थल नभ में फैल ललाम,
तव तनु के मंजुल प्रकाश सी. हमें दीखती है अभिराम,
निशा-काल में गगनमध्य, अवलोक सितारों का संसार,
हमें जान पड़ता बिखरा सा, तव मंजुल हीरों का हार,

(४)

लोनी लोनी ललित लतायें, पुष्प-पल्लवित रुचिर अपार,
मृदुल नवल पल्लव से भूपित हरी भरी सुरभित सुकुमार,
निज यौवन की चञ्चलता में, करती है जब वायु विहार,
समझ तुम्हारी ही कल-क्रीड़ा, होता हूँ मैं चकित अपार,

(५)

वर-वसन्त के सरस-स्पर्श से, प्रकृति सुन्दरी मुदित महान,
मंजुल नित नव साज सजाकर, शोभित होती है,छवि मान,
उसकी वह मृदु छटा निरख कर, होता है जी में यह भान,
निज सुषमा जगती पर फैला, तुम्हीं हुए हो अन्तर्धान,

(६)

ऊषा में तुम कलित-कञ्ज हो, तथा निशा में कुमुद ललाम,
आते दिन में तुम दिनकर बन, स्तब्धनिशा में शशि अभिराम,
एक पुष्प में अतुलित उपवन, एक बिन्दु में अब्धि अपार,
एक छन्द में अखिल काव्य तुम, एक व्यक्ति में हो संसार॥

———